अध्यात्म-ग्रंथ-संग्रह

संपादक

धन्यकुमार जैन एम. जैनदर्शनशास्त्री, इन्दौर

प्रकाशक

श्रीमान् सेठ फकीरचन्दजी गोधा, मंदसौर

की ओर से

भेंट

प्रथमावृत्ति	वीर निर्वाण संवत्	स्वाध्यायार्थ
१०००	२४७२	

भूमिका

पाठक वृन्द!

इस ग्रंथ संग्रह के नाम से ही आप लोग जान सक़ते हैं कि इसमें आठ आध्यात्मिक ग्रन्थों का संकलन किया गया है। लौकिक जीवन में आजिविकार्जन कला की जहां महत्ता है वहीं पारलौकिक जीवन के स्तर को उन्नत बनाने में जीव-उद्धार कला का भी कम महत्व नहीं है। इसी तथ्य को लक्ष्य में रख आज आप लोगों के समक्ष यह ग्रन्थ संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है।

त्र्राघ निवेदन :-

``गृहस्थ और उनका जीवन'' नामक पुस्तक का लिखना समाप्त कर मैं एक ओर तो ``विविध दर्शनों में आत्मचिंतन'' लिखने में और दूसरी ओर ``आप्त परीक्षा'' के हिन्दी अनु वाद करने में लगा हुआ था कि श्री १०८ आचार्य सूर्यसागरजी महाराज का संघ सहित इंदौर में पदार्पणहुआ। दर्शनार्थ जाने पर उन्होंने आदेश दिया कि ``हम एक पुस्तक-संग्रह प्रकाशित करवाना चाहते हैं तुम उसको सम्पादित कर अपनी देखरेख में छपवादो''। गुरु आज्ञा को शिरोधार्य मान कार्य प्रारम्भ कर दिया। परिणाम स्वरूप करीब चार सौ पृष्ट वाली यह संग्रहात्मक चीज आप लोग देख रहे हैं। मैं स्वयं इस बात का अनुभवन कर रहा हूं कि इस ग्रन्थ का जैसा संपादन होना चाहिये था वैसा नहीं बन पाया। अतः ``इसमें बहुतसी त्रुटियां रह गई हैं'' ऐसा ज्ञात होते हुए भी मैं कुछ विशेष नहीं लिखना चाहता।

अस्तु !

ग्रंथ-परिचयः-

इसमें निम्न लिखित आठ पुस्तकों का संकलन किया गया हैं:-

(१) तत्वानु-शासन।
(२) वैराग्य-मणिमाला।
(३) समाधि-शतक।
(४) परमानन्द स्तोत्र।
(५) स्वरूप-संबोधन।
(६) इष्टोपदेश।
(७) सामायिक पाठ।
(८) मृत्यु महोत्सव।

तत्वानु-शासनः- जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट हो रहा है इसमें तत्व रूप जो आत्म-स्वरूप व उसकी प्राप्ति के उपाय ध्यान-का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य श्रीमन्नागसेन मुनि हैं। ग्रंथ के अन्त में दी गई प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि ``विजयदेव'' आपके दीक्षागुरु, व वीर चंद्रदेव, शुभ-चन्द्रदेव तथा महेन्द्रदेव आपके विद्या गुरु थे। ये कब हुए इसका उल्लेख नहीं मिलता फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग से पहिले हुए हैं कारण कि इष्टोपदेश जो कि इसी संग्रह में संकलित है की टीका करते हुए पंडित प्रवर आशाधरजी ने ``उक्तं च'' के रूप में तत्वानुशासन के अनेकों श्लोकों का उल्लेख किया हैं। और यह हो निर्विवाद है कि विक्रम संवत् १२८५ के पहिले तक वे (पं० आशाधरजी) इष्टोपदेश की टीका लिख चुके थे, जैसा कि स्वयं उन्होंने जिनयज्ञ कल्प नामक ग्रंथ में उल्लेख किया है।

इस ग्रन्थ में कुल २५६ श्लोक हैं जो कि इस पुस्तक में ८० पृष्टों में समाविष्ट कियेगये हैं। अन्य २ वादों अनु के होते हुए भी मैंने इसका अपने ढंग से अनुवाद किया है। वैराग्य मणिमाला यह एक बहत्तर श्लोक की वैराग्य भावों को बढानेवाली पुस्तिका है। यह इस संग्रह में ३५ पृष्टों में लिखी गई है। संसार का जीवन की असारता तथा अनित्यता का वर्णन कर इसमें चार धारणाओं पूर्वक ध्यान करने के लिये प्रेरणा की गई है। इसके बनाने वाले श्रुतसागरसूरि के शिष्य श्री श्रीचन्द्रजी हैं। इनका समय विक्रम की सोलहवीं

शताब्दि माना जाता है इसके पुस्तिका के अतिरित्क अभी तक उनका और कोई दूसरा ग्रन्थ देखने में नहीं आया है। इसका भी अनुवाद मैंने किया है।

समाधि शतकः- यह ग्रन्थ आचार्य श्री पूज्यवाद स्वामी द्वारा लिखा गया है आचार्य श्रीने इसमें एक सै पांच कारिकाओं द्वारा समाधि संपादन के लिये कारणीभूत कर्तव्यों का अच्छा विवेचन किया है। ये आचार्य वर्य विक्रम की छठी शताब्दी में हुए ऐसा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है। संभव है कि वे इससे भी पूर्ववर्ती हों। आचार्य का ज्योतिष, वैद्यक, व्याकरण व सिद्धांत-ज्ञान पर पूर्ण अधिकार था। इन्हें देवनन्दी के नाम से भी संबोधित किया जाता है। वर्तमान में आप सर्वार्थ-सिद्धि के टीकाकार के रूपमें ज्यादा प्रसिद्ध हैं।

इस ग्रन्थ का अनुवाद पहले स्व. ब्र. ज्ञानानंदजी ने किया था। मैंने उसी का इसमें यंत्र तंत्र कुछ संशोधन मात्र किया है।

परमानन्द स्तोत्रः- इसके रचयिता अपरिज्ञात हैं। रचयिता ने कुछ थोडे से (२४) श्लोकों में ही परमानन्द का स्वरूप व उसकी प्राप्ति के लिये अच्छी प्रेरणा व विवेचना की है। इसका भी अनुवाद स्व. ब्र. ज्ञानानंदजी ने किया।

स्वरूप-संबोधनः- यह श्री मद्भट्टाकलंकदेव की रचना है इसग्रंथ मे आत्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए उसकी प्राप्ति का उपाय विवेचित किया गया है। साथ ही आत्मा को उद्बोधित कर आत्मा-स्वरूप की प्राप्ति के लिये सचेष्ट बनने का उपदेश दिया गया हैं। इसका भी अनुवाद स्व. ब्र. ज्ञानानंदजी ने किया है।

इष्टोपदेशः- यह उन्हीं आचार्य की कृति है जिनकें विषय में, समाधि शतक के अंतर्गत लिखते हुए कुछ संकेत किया गया है। दूसरे शब्दों में इस ग्रंथ के रचयिता देवनन्दी (पुज्यपाद) आचार्य हैं। आचार्य वर्य ने अपनी इन ५१ इक्यावन कारिकाओं में ही बडे सुन्दर ढंग से इष्ट का निरूपण करते हुए अन्त में यह बताया है कि ``जीवोंऽन्य-पुद्गल चान्यः''। यही और बस इतनी ही तत्व की बात है। कि जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है। इस प्रकार स्वपर विवेक ज्योति का मुमुक्षु के मानस-मंदिर में प्रसाद करने के लिये यह एक सफल प्रयत्न कहा जा सकता है। पंडितप्रवर आशाधरजी की संस्कृत टीका तो इसमें, ``सोनेमें सुहागा'' जैसी काम कर रही है। इसी टीका का आलंबन ले मैंने, श्रद्धेय पिताजी (स्याद्वादवारिधि न्यायालंकार जैन सिद्धान्त महोदधि पं. वंशीधरजी) के साहाय्य से अन्वय, अर्थ व विशदार्थ

सहित अनुवाद करने की चेष्टा की है। साथ ही प्रत्येक श्लोक के अन्त में स्व० व्र० शीतलप्रसादजी के हिन्दी के दोहे भी जोड़ दिये हैं। अगर हम संसारी जन जरा गहराई से सोंचें तो संसार सागर संतरण में इस ग्रन्थ का वही महत्त्व है जो गहरे गर्त में गिरे हुए ग्रामीण जन को हस्तावबवन का महत्व प्रतीत होता है।

सामायिक-पाठ :- इसके कौन लेखक हैं अथवा यह किसका बनाया हुआ है, कुछ भी ज्ञात नहीं है। फिर भी १२ श्लोकों में उल्लिखित विषय, अवश्य महत्वका एवं जीवनोपयोगी है। इसमें, सामायिक करते समय कैसे भाव रखना चाहिये व उनसे क्या लाभ होता है यह बतलाया गया है। इसका भी अनुवाद स्व. ब्र. ज्ञानानन्दजी ने किया है।

मृत्यु-महोत्सवः- इसमें ग्रंथ के मूल १८ श्लोकों के अतिरिक्त प्रकरणोपयोगी ७ श्लोक और हैं जो कि भगवान समंतभद्राचार्य के बनाये हुए रत्नकरणड़श्रावकाचार नामक ग्रंथ में पाये जाते है मूल के १८ श्लोकों के रचयिता के विषय में कुछु ज्ञात नहीं है जीवन को लक्ष्य में रखने पर यह पुस्तिका बड़ी ही लाभदायक प्रतीत होती है कारण कि दुनियां कहती है कि ``अंत सुधरा तो सव सुधरा'' इस ग्रन्थ के २५ श्लोकों में जीवन का अन्त सुधारने का उपाय बतलाया गया है। दूसरे शब्दों में, इसमें मृत्यु समय होनेवाली धबराहट को दूर कर परिणामों को शांत बनाने सल्लेखना करने का उपदेश दिया गया है।

इस प्रकार आप लोगों के समक्ष इन संकलित पुस्तको का परिचय दे दिया गया है। मेरा विचार था कि प्रत्येक पुस्तक के अन्त में एक २ परिशिष्ट के रूप में वर्णित-विषय का सक्षेप में सार दे देता। साथ ही यह भी विचार था कि ग्रंथों में आए हुए किन्ही २ विशेष श्लोकों के स्पष्टी करण के रूप में कुछ विशेष प्रकाश डालता अर्थात् इन ग्रंथों में आये हुए दार्शनिक शब्दों का जैसे तुच्छाभाव, नैरात्म्यवाद, योग-दर्शन संबन्धी प्राणा याम धारणा, समाधि, संप्रज्ञात योग, विवेचन कर देता। इसी प्रकार समाधिशतक में आत्मा कै अस्तित्व की सिद्धि, इष्टोप्रदेश के २१ वें श्लोक पर विशेष प्रकाश डालते हुए दार्शनिक विवेचना कर देता, किन्तु वेवशी के वश ऐसा न कर सका। जल्दी रहने के कारण तत्वानुशासन व बैराग्य मणिमाला के श्लोकों का अन्वय भी रह गया।

इतने पर भी मैने बाकी बचे हुए ग्रंथों में, जिनके श्लोकों का अन्वय नहीं था, जोड़ दिया है। जिससे स्वाध्याय-प्रेमी पाठकों को सहूलियत हो जाय। कही २ पाठ भेद भी प्रतीत हुआ जो ( ) इस प्रकार के व्रेकटों में लिख दिया है। कही २ टिप्पणी भी दे दी हैं।

प्रत्येक ग्रंथ की आदि में विषय सूची च अन्त में विषयानुक्रममणिका देने की भी चेष्टा की गई है। विषय सूची लिखते हुए यह भी ध्यान में रखा गया है कि ग्रन्थ गत संक्षेप में सिलसिलेवार विषय स्पष्ट हो जाय।

आभार प्रदर्शन :- पूज्यश्री १०८ आचार्य सूर्यसागरजी तो श्रद्धा व आदर के पात्र हैं ही, फिर भी उन्होंने इस ग्रंथ के संपादन कां भार मुझ पर डाल मुझे प्रोत्साहित किया अतः मैं उनका आभारी हूं। श्रद्धेय पूज्य पिताजी (श्रीमान् स्याद्वादवारिधि न्यायालंकार जैनसिद्धान्तमहोदधि पं० वंशीघरजी सिद्धान्त शास्त्री प्रिंसिपाल सर हुकुमचंद दि. जैन संस्कृतमहाविद्यालय इन्दौर) का भी चिरऋृणी हूं। आपकेही प्रोत्साह, व सत्परामर्श का ही यह प्रताप है जो मैं यह कार्य इतने अल्प समय में (करीब २।।, ३ माह) में कर पाया मैं श्री लक्ष्मीचन्दजी वर्णी व साहित्य-रत्न सहितासूरि पं. नाथूलालजी का भी आभारी हूं जो समय व समय उचित परामर्श देते रहे हैं। मंदौसर निवासी पं० श्रीमान् सेठ फकीरचंदजी गोधा, भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके कि प्रद्रत्त द्रव्य से यह प्रकाशित हो रहा है। कंपोजिटर्स भाई लक्ष्मीचन्द्रजी जैन व मदनलालजी जैन भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने जितना बन सकता था उतना मुझे सहयोग प्रदान किया उन ग्रंथ प्रकाशकों व लेखकों का भी आभार मानता हूं जिनकै कि प्रकाशन में से इसके लिये थोडीसी भी सामग्री ली गई है।

अंतिम निवेदन :-

पाठक गण ! आप लोगों के समक्ष जल्दी २ में, जैसा, जो कुछु बन सका, वह प्रस्तुत है। यदि इसके संपादन में कहीं विशेष त्रुटि प्रतीत हो रही हो तो कृपया मुझे सूचित करे ताकि, यदि इन्हीं ग्रन्थों की द्वितीयावृत्ति हुई तो उसेंम वे दूर कर दी जा सकें। आप लोग दत्तचित्त हो स्वाध्याय करें यही तुच्छ निवेदन है। इसको पढ़, यदि कोई एक प्राणी भी अपनी दृष्टि परिवर्तित कर, आत्म हित साधन में लग गया तो मैं समझूंगा कि मैंने अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार प्राप्त कर लिया। इत्यलमू विज्ञेषु किमधिकम्।

धन्यकुमार जैन
M.A. जैनदर्शनशास्त्री

तत्वानुशासन
की
विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ से-पृष्ठ तक

मंगलाचरण १

सर्वज्ञास्तित्वसिद्धि १

सर्वज्ञोपदेश १

हेयरूप बंध का विवेचन अर्थात् बंध का

लक्षण, कार्य तथा कारण का कथन, कारण रूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का लक्षण कथन, मिथ्यादर्शन का प्राधान्य प्रदर्शन, उसके अंगभूत ममकार व अहंकार का स्वरूप, मोह के कार्यरूप चक्कर (घेरा) का वर्णन। २-४

शत्रुरूप बन्ध के कारणो के नाश के लिये

व प्रतिपक्षी मोक्ष की प्राप्ति हेतु प्रेरणा, मोक्ष के कारणो का स्वरूप सहित उल्लेख, मोक्षमार्ग के भेद, व्यबहार व निश्चयनय का लक्षण, व्यवहार व निश्चयनय से मोक्ष का कारण। ५-७

मोक्षमार्ग की प्राप्ति ध्यान से होने के कारण

ध्यानाभ्यास की प्रेरणा, ध्यान के भेव उनमें हेयोपादेयता, शुक्लध्यान के स्वामी, धर्मध्यान का वर्णन ध्याता का कर्तव्य, ध्याता, ध्येय, ध्यान व उसके फल का कथन, ध्यान के आठ अंग, ध्याता का स्वरूप, धर्मध्ययान के स्वामी, उसके भेद सामग्री भेद से ध्यान में भेद, उत्तम मध्यम व जधन्य ध्यान का कथन, धर्म ध्यान धारण करने की योग्यता, धर्म व धर्म्यध्यान की परिभाषा ८-१३

ध्यान का लक्षण, लक्षणगत ``एकाग्र-

चिंतारोध पद का अर्थ, भिन्न २ दृष्टिकोणों से ध्यान का विवेचन, ध्यान की सामग्री, सामग्रीरूप इन्द्रियजय व मनो जय की विधि, ध्यान संबंधी शंका व उस का समाधान,

पृष्ठ से-पृष्ठ तक

तत्संबंधी आगम वाक्यका औचित्य, ध्यान की सामग्री, ध्यान के दूसरे दृष्टिकोणसे भेद, निश्चय व व्यवहार ध्यान का स्वरुप १३-२२

व्यवहार ध्यान का वर्णन, ध्येय के भेद,
नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव का स्वरुप, ध्येय रूप छह द्रव्यों का कथन, पुरुष ध्येय है तथा पुरुषों में भी तत्वरूप पांच परभेष्ठी ध्येय हैं। सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप, अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप, आचार्य उपाध्याय व साधु परमेष्ठी का स्वरूप, द्रव्य ध्येय का स्वरूप वर्णन. २२-२९

निश्चय ध्यान का विवेचन, निश्चय ध्यानकी
भावना, ध्यान का अर्थ तुच्छाभाव नहीं, स्वलंवेदन का स्वरूप व उसकी विधि, ध्यान का ही नाम नैरात्म्यद्वैत है, नैरात्म्यवाद का स्वरूप, द्वैताद्वैत दृष्टि का विवेचन, आत्मदर्शन का फल, स्वात्मध्यान के अभ्यास की विधि, एक शंका व उसका कई तरह से समाधान, ध्यान का फल, ध्यान की सामर्थ्य, चूंकि ध्यान फल सहित है अतः भ्रांतिरूप नहीं है, ध्यान की सहायक सामग्री, ध्यान के चार मुख्य कारण ३०-४४

चार ध्यानों (अर्त रौद्र, धर्म्य व शुक्ल) में
से धर्म्य व शुक्ल ध्यान के लिये प्रेरणा, शुक्लध्यान का स्वरूप, शुक्लध्यानाभ्यास के लिये प्रेरणा व उसका फल, उससे मोक्ष की प्राप्ति होना, मोक्ष का स्वरूप, मुक्तिस्थान में मुक्तात्मा का स्वरूप, सिद्ध सुख विषयक एक शंका, उसका समाधान, एकान्तवादियों के ``चूंकि मोक्ष की प्राप्ति ध्यान से होती है अतः ध्यान का वर्णन किया गया है'' ऐसा लेखक का निवेदन लेखक की स्व लघुता व अन्तिम निवेदन व भावना ४४-५५

अन्तिम प्रशस्ति ५२-५३

वैराग्य-मणि-माला

की

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
मंगलाचरण	६६
चारित्र पालने की प्रेरणा	६६
संसार स्वरूप दिग्दर्शन	६७
हित-उपदेश व उद्‌बोधन	६८
सच्चिदानन्द मय आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रेरणा	७३
प्राणयाम-विधि	७५
पूरक का लक्षण	७५
कुंभक का लक्षण	७५
रेचक का लक्षण	७६
प्राणायाम करते हुए ध्यान की विधि	७६
चार धारणाओं (आग्नेयी मारुती, वारुणी, तत्व रूपवती) का स्वरूप	७९-८१
धारणाओं के बाद मंत्र स्मरण की प्रेरणा व विधि	८१
मंत्र स्मरण का फल	८३
ध्यान के समय सिद्ध-स्वरूप, परमात्म-स्वरूप व आत्म-स्वरूप-चिन्तवन की सलाह	८४-८५
अंत में शुद्ध दशा की प्राप्ति के उपाय	८८
अंतिम प्रशस्ति	९०

समाधि-शतक

की

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ से-पृष्ठ तक
मंगलाचरण	९५
ग्रंथ बनाने की प्रतिज्ञा	९६
आत्मा के भेद व उनके स्वरूप	९६
परमात्मा वाचक नाम	९७
बहिरात्मा की शरीरादिक मे आत्मबुद्धि होने का हेतु व उसका परिणाम (फल)।	९७
बहिरात्मा के प्रति दयाभाव व उसे अंतरात्मा बनने की शिक्षा।	१००
अंतरात्मा के विचार	१०१
आत्मज्ञान का उपाय	१०१
बाह्य व अंतरंग वचन छोड़ने का उपाय	१०२
आत्मा का असली स्वरूप	१०३
आत्मज्ञान होने के पूर्व ब बाद की चेष्टा	१०३
शुद्ध आत्मा में स्त्रीलिंग, आदि की कल्पना नहीं, शुद्ध आत्मा का स्वरूप, इसमें शत्रु मित्र की कल्पना नहीं।	१०४-१०६
बहिरात्मावस्था को त्याग परमात्मपद की प्राप्तिके लिये प्रेरणा, परमात्मपदकी भावना का फल, परमात्म पद की प्राप्ति का उपाय	१०६-१०९
आत्मा को शरीर से भिन्न न मानने से हानि। एक शंका व उसका समाधान, अविक्षिप्त आत्मा का स्वरूप व विक्षेप और अविक्षेप का फल, उनके दूर करने का उपाय, राग द्वेष दूर करने का उपाय, भ्रमात्मक प्रेमके नाश का उपाय।	१०९-११३
बहिरात्मा व अंतरात्मा की प्रवृत्ति का वर्णन,अर्थात् शरीरादिक को आत्मा मानने वाला तप करके क्या चाहता है ? कर्मबंध किस को होता है,	

किसको नहीं, बहिरात्मा किस को आत्मा मानता है व अंतरात्मा किस को, अंतरात्मा बाह्य पदार्थो का कर्ता भोक्ता क्यों मानता है, बहिरात्मा व अंतरात्मा किसका त्याग व ग्रहण करते हैं ? ११३-११७

अंतरात्मा का वर्णन अर्थात् अंतरात्मा के मन वचन काय की प्रवृत्ति, उसका, आत्म स्वरूप चिंतन, उसे परमानन्दमयी ज्योति अनुभव करते समय कष्ट क्यों ? इसका उत्तर, आत्म स्वरूप की भावना, ११८-१२०

बहिरात्मा को सत्परामर्श, अर्थात् जिन बाहय पदार्थो में बह आसक्त हो रहा है वे हित कारक नहीं, मिथात्व वश जीव क्या करते हैं ? अतः बहिरात्मावस्था को त्याग, चिंतनीय तत्व, स्वानुभव को दूसरों को बताना चाहिये या नहीं ? इसका उत्तर, बहिरात्मा व अंतरात्मा किससे संतुष्ट होते हैं ? संसार ज मोक्ष कब होता है ? इनका कथन। १२०-१२४

भेदज्ञान होने पर आत्मा की परिणति, ``परम वीतराग दशा कौन प्राप्त कर पाता है'' ? इनका कथन, मुक्ति प्राप्तिकी योग्यता मोक्षेच्छुक पुरुषों का कर्तव्य, आत्मदर्शी की परिणति, आत्मा को आत्मा मानने से मोक्षप्राप्ति। आत्मा का आत्मा गुरु बहिरात्मा व भेदज्ञानीके मृत्यु के प्रति विचार भेद, ``मुक्ति की कब प्राप्ति होती है'' इस का खुलासा, ज्ञानी की दष्टिमें जगत, भेद दृष्टि बिना मुक्ति नहीं। १२४-१३१

पाप व पुण्य मोक्ष के प्रतिबंधक है, उनके त्याग का क्रम, दुःखके मूल कारण व मोक्ष के प्रतिबंधक का कथन। कल्पना जाल के नाश का क्रम, मात्र साधुवेश से व उत्तम जाति में उत्पन्न होने से व मिथ्याशास्त्रों के दुराग्रह से मुक्ति नहीं, मोह मंदता बाह्य चारित्र के कार्यकारित्व के लिये आवश्यक, कौन किस अवस्था को भ्रमरूप समझता इसका विवेचन, कर्मबंध से छुटने की योग्यता १३२-१३९

मन की विशेषता ध्येय को ध्याता से अभिन्न मान ध्यान करना अच्छा है तथा भिन्न मानकर भी भेदाभेद का उपसंहार, आत्मा भूत चतुष्टय से समुत्पन्न नहीं, शरीर नाश पर आत्मा का नाश नहीं, आत्मा व शरीर में भेद दृष्टि का विवेचन। १३९-१४५

उपसंहार १४५

परमानन्द-स्तोत्र

की

विषय-सूची

	श्लोक	पृष्ठ
ध्यानहीन परमात्मा को नही देख सकते	१	१५२
परमात्म-दर्शन की प्रेरणा	२	१५२
परमात्मा का स्वरूप	३	१५२
स्वोद्धार चिंता करणीय है	४	१५३
ज्ञानामृतपान की प्रेरणा	५	१५३
देहस्थित-आत्म-सेवा की प्रेरणा	६	१५३
आत्मा व देह में स्वभाव भेद	७	१५३
शुद्ध आत्मा का स्वरूप	८, ९	१५४
उसकी प्राप्ति के लिये ध्यान की प्रेरणा व उसका फल	१०, ११	१५४-१५५
निज स्वभाव में लीन मुनि परमात्म स्वरूप को जान पाता है	१२	१५५
परमात्मा का स्वरूप व निर्विकल्प समाधि द्वारा उसकी प्राप्ति	१२, १४, १५	१५५-१५६
निर्विकल्प समाधि में आत्मा का स्वरूप	१६ से २१	१५६-१५७
सच्चे सुधी का स्वरूप	२२ से २४	१५७-१५८

स्वरूप संबोधन
की
विषय-सूची

	श्लोक	पृष्ठ
मंगलाचरण	१	१६१
स्याद्वाद को दृष्टि में रख परमात्मा का स्वरूप	२ से १०	१६२-१६६
आत्म स्वरूप की प्राप्ति का उपाय	११ से १४	१६६-१६७
आत्म स्वरूप की उपलब्धि के लिये रागद्वेष त्याग, कषाय त्याग, मोह त्याग, व हेयोपादेय विवेक के लिये प्रेरणा	१६ से२०	१६७-१६९
मोक्षार्थी, मोक्ष के प्रति भी आकांक्षाने करे अतः निज स्वरूप में स्थिर होओ	२१, २२	१६९
निजस्वरूप चिंतवन से परमात्मपद की प्राप्ति होती है	२३, २४	१७०

इष्टोपदेश

की

विषय-सूची

	पृष्ठ से-पृष्ठ तक
मंगलाचरण	१७३
``स्वयंस्वभावावाप्ति'' का समाधान	१७४
ब्रतादिक की सार्थकता	१७४-१७५
स्वर्ग सुख का वर्णन	१७७-१७८
``संसारिक स्वर्गादि सुख भ्रांत है'' इसका कथन	१७८-१८०
यदि ये वासना मात्र हैं तो उनका वैसा अनुभवन क्यों नहीं होता इसका उत्तर	१८०-१८२
अपने शत्रुओं के प्रति द्वेष भाव मत करो	१८३-१८४
राग द्वेष भाव से आत्मा का अहित होता है	१८४-१८६
संसार में भी सुख है फिर इसका त्याग क्यों ? इसका समाधान	१८६-१९०
संसारिक सुख तथा धन आदि मध्य तथा अन्त में दुःख-दायक हैं	१९१-१९३
``धन से आत्मा का उपकार होता है अतः उपयोगी है'' इसका समाधान	१९४-१९५
ध्यान के द्वारा कायोपकार नहीं, अपि तु आत्म हित करना चाहिये	१९५-१९६
ध्येय रूप आत्मा का स्वरूप वर्णन	१९६-१९७
उसकी उपासना के उपायों का वर्णन	१९७-१९८
आत्मोपासना का फल	१९९-२०५
निर्मम होने के उपायों का वर्णन	२०५-२०८

	पृष्ठ से-पृष्ठ तक
``पौद्गलिक कर्मबंध क्यों होता'' इसका कथन	२०८-२०९
परोपकार को छोड़ स्वोपकार के लिये प्रेरणा	२१०-२११
स्वयं ही स्वयं का गुरु है	२११-२१३
स्वात्मावलोकन के अभ्यास का वर्णन	२१३-२१६
स्वात्मसंवित्ति बढ़ने पर आत्मपरिणति	२१६-२२०
आत्मस्वरुप में तत्पर रहने वाले को परमानंन्द की प्राप्ति	२२१-२२३
तत्वसंग्रह का वर्णन	२२३
उपसंहार व टीकाकार का अंतिम निवेदन	२२४-२२५

सामायिक-पाठ

की

विषय-सूची

	श्लोक	पृष्ठ
मंगलाचरण	१, २	२२८
सामायिक की तैय्यारी	३	२३०
क्षमाभाव धारण	४	२३०
सर्वथा दोष परित्याग	५	२३०
उपसर्ग सहन व कषाय त्याग	६	२३१
सब विकारी भावों का त्याग	७	२३१
समताभाव का धारण करना	८	२३१
आत्मा ही ज्ञान दर्शन चारित्रमय है	९	२३२
एक शाश्वत ही मेरी आत्मा है	१०	२३२
संयोग से दुःख होत है अतः सामायिक करने की प्रेरणा	११, १२	२३२-२३३

मृत्यु-महोत्सव
की
विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या
सल्लेखना का स्वरूप	२३५
समाधिमरण के समय का कर्तव्य	२३६
समाधिमरण की तैय्यारी व विधि	२३७
समाधि मरण मोक्षनगर के लिये कलेवा है	२३८
समाधि मरण से नये नगर की प्राप्ति	२३९
मृत्युभूपति का स्वागत	२४०
मृत्यु मित्र है, कल्पवृक्ष है, बिना प्रयत्न सुन्दर शरीर व इंद्रिय की प्राप्ति कराने वाला है	२४०
मृत्यु ज्ञानी को प्रमोद, वैराग्य व सुख का कारण है, वही अज्ञानी को शोक व दुःख का कारण है।	२४२
समाधिमरण व तप के फल में समानता	२४४
शांति पूर्वक मृत्यु का फल	२४४
समाधिमरण से व्रतादिक सब सफल है	२४४
समाधिमरण का फल	२४५

नमोऽनेकान्तविश्रान्तमहिम्नेपरमात्मने

श्रीमन्नागसेनाचार्यप्रणीत

तत्त्वानुशासन।

—◆○◆○◆○◆—

मंगलाचरण

सिद्धस्वार्थानेशेषार्थस्वरूपस्योपदेशकान्।
परापरगुरून्नत्वा वक्ष्ये तत्त्वानुशासनम्।।१।।

कर्म-मल-रहित, शुद्ध, आत्मस्वरूप रूप स्वार्थ को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है तथा सम्पूर्ण पदार्थो के स्वरूप का जिनने उपदेश दिया है, ऐसे जो पर तथा अपर गुरुवृन्द हैं, उनको नमन कर मैं (नागसेन मुनि) तत्वानुशासन नामक ग्रन्थ को कहता हूं।

सर्वज्ञ का अस्तित्व

अस्ति वास्तवसर्वज्ञः सर्वगीर्वाणवंदितः।
घातिकर्मक्षयोद्भूतस्पष्टानंतचतुष्टयः।।२।।

ज्ञानावरणी आदि चार घातिया कर्मो के नाश से स्पष्टरूपेण जिसे अनन्त चतुष्टयों की उद्भूति (प्रगटता) होगई है तथा जो इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं द्वारा वन्दनीय है, ऐसा, कल्पित नही, अपितु वास्तविक सर्वज्ञ पाया जाता है।

सर्वज्ञोपदेश

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे।
तत्त्व हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ।।३।।

जन्म, जरा, मरण रूप तीन संताप से संतप्त भव्य जीवों को मोक्ष रूप सुख की प्राप्ति के लिए, उस सर्वज्ञ देव ने हेय अर्थात् छोड़ने योग्य और उपादेय, अर्थात् अपनाने योग्य, रूप दो प्रकार के तत्त्वों का उपदेश दिया।

बंधो निबंधनं चास्य हेयमित्युपदर्शितम्।
हेयं स्याद् दुःखसुखर्योयस्माद्बीजमिदं द्वयम्।।४।।

उसने उपदेश दिया कि ``इस जीव के लिये बंध व उसके कारण छोड़ने योग्य हैं चूंकि ये देनों सांसारिक सुख और दुख के बीज भूत कारण हैं। तथा-

मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतम्।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति।।५।।

मोक्ष और उसके कारण इस जीव के लिये ग्रहण करने योग्य हैं'' ऐसा उस सर्वज्ञ देव के द्वारा कहा गया है। चूंकि इनसे (मोक्ष तथा उसके कारण) आत्मीक सुख प्रगट होता है, उसकी अनुभूति होती है, अतः ये उपादेय हैं।

बन्ध का लक्षण

तत्र बंधः स हेतुभ्यो यः संश्लेषः परस्परम्।
जीवकर्मप्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विधः।।६।।

उनमें (हेयोपादेय तत्वोंमें) से मिथ्यादर्शनादिक कारणों के द्वारा जो जीव और कर्मो के प्रदेशों का आपम में संश्लेष (मिल जाना) होजाना है सो बन्ध है। वह चार भेद (प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश) वाला है।

बन्ध का कार्य

बंधस्य कार्यः संसारः सर्वदुःखप्रदोऽगिनाम्।
द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन स चानेकविधः स्मृतः।।७।।

उसी बन्ध का कार्य संसार है जोकि प्राणियों को सब प्रकार के दुखों को देने वाला है तथा वही द्रव्य क्षेत्र आदि के भेद से अनेक प्रकार का माना गया है।

बन्ध के कारण

स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः।
बंधस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः।।८।।

संक्षेप से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र ये तीन ही बंध के कारण हैं। अविरति आदि अन्य बंध के कारण तो इन्हीं के विस्तार हैं अर्थात् इन्ही के भेद प्रभेद हैं।

मिथ्यादर्शन का लक्षण

अन्यथावस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणाम।
दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते।।९।।

मोहनीय कर्म के उदय से, अन्य रूप से पाये जाने वाले पदार्थो में, जो मनुष्यों का, अन्य रूप से विश्वास या रुचि (श्रद्धा) का होजाना है सो मिथ्यादर्शन कहा जाता है। अर्थात् जिससे मनुष्यों को कुछ का कुछ उल्टा श्रद्धान होजावे उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं।

मिथ्याज्ञान का लक्षण

ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाधिगमो भ्रमः।
अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिह त्रिधा।।१०।।

ज्ञान को ढक देनेवाले ऐसे ज्ञानावरणी कर्म के उदय से पदार्थो में अन्य रूप से अर्थात् जैसा उसका स्वरूप है वैसा नही किन्तु अन्य प्रकार से जो ज्ञान होना है सो मिथ्याज्ञान हे। वह भ्रम (अनध्यवसाय) अज्ञान (विपरीत) व संशय के भेद से तीन तरह का है अर्थात् उसके तीन भेद हैं।

मिथ्याचारित्र का लक्षण

वृत्तिमोहोदयाज्जन्तोः कषायवशवर्त्तिनः।
योगप्रवृत्तिरशुभा मिथ्याचारित्रमूचिरे।।११।।

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कषाय के वश में रहने वाले प्राणी के, मन, वचन, काय रूप योगों की जो अशुभ प्रवृत्ति होती है उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं।

मिथ्यादर्शन की प्रधानता

बंधदेतुषु सर्वेषु मोहश्च प्राक् प्रकीर्तितः।
मिथ्याज्ञानं तु तम्यैव सचिवत्वमशिश्रियत्।।१२।।
ममाहंकारनामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ।
यदायत्तः सुदुर्भेदो मोहव्यूहः प्रवर्तते।।१३।।

बंध के संपूर्ण कारणोंमें सबसे पहिले मोह (मिथ्यादर्शन) कहा गया है। मिथ्याज्ञान तो उसका सहायक मात्र ही है। ममत्व और अहंकार हैं नाम जिनके ऐसे दो सेनापति हैं, वे दोनों, जिनके कि आधिपत्य में यह मोह रूपी व्यूह अत्यंत दुर्भेद्य होरहा है उसके लडकेभी हैं। यहां पर मोह (मिथ्यादर्शन) को युद्ध में तत्पर राजा बतला, मिथ्याज्ञान को उसका मंत्री और ममकार एवं अहंकार को उसका पुत्र तथा सेनापति कहा गया है।

ममकार का लक्षण

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा वेहः।।१४।।

जो आत्मा से सदा भिन्न हैं, ऐसे कर्मोदय से उत्पन्न अपने शरीर आढि (स्त्री, पुत्र, मकान आदि) पदार्थो में आत्मीय (स्वत्व) भावना होजाना सो ममकार (ममत्वबुद्धि) है। जैसे अपने शरीर में, जो कि आत्मा से पृथक है, ``यह मेरा है'' ऐसी बुद्धि होना।

अहंकार का लक्षण

ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोंऽहं यथा नृपतिः।।१५।।

उन विभाव परिणामों में, जो कर्मों के द्वारा किये गये हैं तथा निश्चयनय से जो आत्मा से भिनन हैं, उनमें अपनेपन की भावना करना सो अहंकार बुद्धि है। जैसे ``मैं राजा हूं''

मोह का घेरा

मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकारसंभवः।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते।।१६।।

मिथ्याज्ञान सहित मोह (मिथ्यादर्शन) से ममकार व अहंकार पेदा होते हैं। इन ममकार तथा अहंकारों से जीव के राग द्वेष पैदा होते हैं। तथा-

ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नोकषायाश्च तन्मयाः।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः।।१७।।
तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगतिदुर्गती।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणिच।।१८।।

उन (राग-द्वेषों) से कषाय तथा नोकषाय, जोकि कषायरूप ही हैं, होती हैं। उन कषाय नोकषायों से योगों में प्रवृत्ति होती है, योगों की प्रवृत्ति से प्राणि-हिंसादि रूप पंच पापों में प्रवृत्ति होती है, उन पापों से कर्म बंधते हैं, उस कर्म-बन्ध के उदय से अच्छी व बुरी गति की प्राप्ति होती है, उन सुगतियों व दुर्गतियों में शरीर पैदा होते हैं और उन शरीरों के साथ २ इन्द्रियां भी पैदा होती हैं या बनती हैं।

तदर्थानिन्द्रियैगृह्णन् मुह्यति द्वेष्टि रज्यते।
ततो बंधो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान्।।१९।।

फिर उन स्पर्शन आदि इन्द्रियों के द्वारा स्पर्शादि विषयों को ग्रहण करती हुई संसारी आत्मा, मोह करती, द्वेष करती तथा अनुराग करती है, जिससे आत्मा के फिर कर्मबन्ध होता है। इस प्रकार मोह के व्यूह में फंसी हुई यह आत्मा सदा भ्रमण करती रहती है।

तस्मादेतस्य मोहस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः।
ममाहंकारयोश्चात्मन्विनाशाय कुरूद्यमम्।।२०।।

इसलिये, हे आत्मन् ! तू इस मिथ्यादर्शन, और मिथ्याज्ञान रूपी वैरी के तथा ममकार और अहंकार समूलोच्छेदन (विनाश) के लिये प्रयत्न कर।

मोह के नाश की प्रेरणा

बंधहेतुषु मुख्येषु नश्यत्सु क्रमशस्तव।
शेषोऽपि रागद्वेषादिबंधहेतुर्विनश्यति।।२१।।

बंध के, (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानादि रूप) मुख्य कारणों के नष्ट होजाने पर, हे आत्मन् ! तेरे बचे हुए राग द्वेषादि बंध के कारण भी धीरे २ नष्ट होजावेंगे।

ततस्त्वं बंधहेतूनां समस्तानां विनाशतः।
बंधप्रणाशान्मुक्तः सन्न भ्रमिष्यसि संसृतौ।।२२।।

उन बंध के सम्पूर्ण कारणों के नष्ट होजाने से, तू बंध के जाल से मुक्त होता हुआ, संसार में भ्रमण भी नहीं करेगा।

बंधहेतुविनाशस्तु मोक्षहेतुपरिग्रहात्।
परस्परविरुद्धत्वाच्छीतोष्णस्पर्शवत्तयोः।।२३।।

चूंकि, शीत व उष्ण स्पर्श के समान मोक्षहेतु व बंधहेतु, आपस में एक दूसरे से विरुद्ध

हैं, अतः बंधके कारणों का विनाश होगा मोक्ष के कारणों को अपनाने से।

मोक्ष के कारण

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः[१]।
मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरासंवरक्रियाः।।२४।।

श्रीमज्जिनेन्द्रदेव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यकचारित्र की एकता व एकात्मता को मोक्ष का कारण बतलाया है। संवर व निर्जरा रूप क्रियाएं भी मोक्ष-प्राप्ति में सहायक हुआ करती हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतं।।२५।।

जीवादिक सात तत्वों का, व पाप पुण्य युक्त जोवादिक नौ पदार्थो का जिनेन्द्र भगवान द्वारा जैसा स्वरूप विवेचन किया गया है, ``वे वैसे ही हैं, उसी स्वरूप वाले हैं'' ऐसी जो अविचल श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

प्रमाणनयनिक्षेपैर्यो याथात्म्येन निश्चयः।
जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते।।२६।।

उन्ही जीवादिक तत्वों व पदार्थों में, प्रमाण, नय व निक्षेपों द्वारा जो याथात्म्य (ठीकर) निश्चय होजाना सो सम्यग्ज्ञान माना गया है।

सम्यकचारित्र का लक्षण

चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमतकारितैः।
पापक्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषंति तद्।।२७।।

मन, बचन, काय से तथा कृत (स्वयं करना) कारित (दूसरों से कराना) ओर अनुमोदना (दूसरे के द्वारा किये हुए कार्य का समर्थन) से पाप क्रियाओं के छोडने को सम्यक्चारित्र कहते हैं।

मोक्ष मार्ग का भेद

१ **सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः** तत्वार्थ सूत्र. प्र. अ. १

मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा[1] निश्चयव्यवहारतः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनं।।२८।।

मोक्ष प्राप्ति के कारण रूप सम्यदर्शनादि, निश्चय व व्यवहार के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें से आद्य जो निश्चय सम्यग्दर्शनादि, रूप हेतु है वह तो साध्य रूप है और जो द्वितीय है वह उसका साधनरूप है। अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग से निश्चयमोक्षमार्ग की प्राप्ति की जाती है।

व्यवहार व निश्चय नय का लक्षण

अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो[2] नयः।
व्यवहारनयो[3] भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः।।२९।।

जिसमें अभिन्न कर्ता कर्म आदि विषय हों उसे निश्चय नय तथा जिसमें कर्ता, कर्म आदि भिन्न विषय हों उसे व्यवहार नय कहते हैं।

व्यवहार से मोक्ष का कारण

धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम्।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारन्मुक्तिहेतुरयम्।।३०।।

धर्माधर्मादि के स्वरूप का ठीक ठीक (यथार्थ) विश्वास या श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन हैं। उन्ही धर्म आदि पदार्थो का ठीक ठीक जानना सो सम्यग्ज्ञान है, तथा तप के आचरण के लिये चेष्टा करना सो सम्यकचारित्र है। यह व्यवहारनय से मोक्ष का उपाय हैः

निश्चय से मोक्ष का कारण

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ।।३१।।

इन तीनों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यकचारित्र) से युक्त अभिन्न मुनि, निश्चयनय से मोक्ष का कारण कहा गया है, जो न तो किसी को ग्रहण करता है न किसी को

---

१ समयग्दर्शनज्ञानचरण शिव-मग, सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सां निश्चय, कारण सो व्यवहारो।। **छहढाला**

२ **अभेदग्राहको निश्चयः, ३ भेदग्राही व्यवहारः**

छोडता है।

यो मध्यस्थः पश्यतिजानात्यात्माननमात्मनात्मन्यात्मा।
दगवगचरणरूपस्सनिश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः।।३२।।

``जो आत्मा, स्वयं में स्वयं का स्वयं अवलोकन करती है, स्वयं के द्वारा, स्वयं का, स्वयं में परिज्ञान करती है और मध्यस्थ हो जाती है वही निश्चयनय से मोक्ष का मार्ग है'' ऐसा जिनेन्द्र भगवान का कथन है।

ध्यान के लिये प्रेरणा

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम्।।३३।।

उपरिवर्णित वह दो प्रकार का समीचीन मोक्ष मार्ग, चूंकि ध्यान से प्राप्त होता है, अतः हे बुद्धिमांन् मुमुक्षु प्राणियों ! आलस्य को दुर कर सदा ही ध्यान का अभ्यास करो जिससे मुक्तिहेतुओं की प्राप्ति हो सके।

ध्यान के भेद व उनमें हेयोपादेयता

आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिदं सदा।
धर्म्यं शुक्लं च सद्ध्यानमुपादेयं मुमुक्षुभिः।।३४।।

ध्यान के चार भेद हैं (आर्त्त, रौद्र, धर्म्य व शुक्त)। इनमें से, संसार से छुटकार प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के द्वारा आर्त्त परिणाम, एवं रौद्र परिणाम रूप जो खोटे ध्यान हैं वे सदा ही वर्जनीय (छोडने योग्य) हैं और धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान ग्रहण करने योग्य हैं।

शुक्ल ध्यान के स्वामी

वज्रसंहननोपेताः पूर्वश्रुतसमन्विताः।
दध्युः शुक्लमिहातीताः श्रेष्योरारोहणक्षमाः।।३५।।

वज्रवृषमनाराचसंहनन से युक्त ग्यारह अंग एवं चौदह पूर्व के धारक, उपशम व क्षपक श्रेणी के आरोहण करने (माढ़ने) में समर्थ जो भूतकालीन (चतुर्थ काल के) अनेक महापुरुष होगये हैं, उन्होंने शुक्लध्यानको धारण किया था।

धर्म ध्यान का वर्णन

तादृक्सामग्रयभावे तु ध्यातुं शुक्लमिहाक्षमान्।
ऐदंयुगीनानुद्दिश्य धर्मध्यानं प्रचक्ष्महे।।३६।।

वर्तमान समय में यहां पूर्व काल जैसी सामग्री का, चूंकि, अभाव पाया जाता है अतः शुक्ल ध्यान के लिये असमर्थ, हुए इस युग के पुरुषों को दृष्टि में रखते हुए धर्म ध्यान का कथन किया जाता है।

ध्याता का कर्तव्य

ध्याता ध्यानं फलं ध्येंय यस्य यत्र यदा यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यानतुकामेन योगिना।।३७।।

जो व्यक्ति या योगिपुरुष ध्यान करने के लिये इच्छुक है उसे निम्न लिखित आठ बातों को अच्छी तरह समभ्क लेना चाहियेः-

ध्याता-ध्यान करने वाला।
ध्यान चिंतन क्रिया।
ध्यान का फल-प्रयोजन, निर्जररासंवर रूप।
ध्येय-चिंतन योग्य पदार्थ।
यस्य-जिम पदार्थ का ध्यान करताहै। (द्रव्य)
यत्र-जहां ध्यान करता है। (क्षेत्र)
यदा-जिस समय ध्यान करता है। (काल)
यथा-जिस रीति से ध्यान करता है। (भाव)

ध्याता ध्येय ध्यान व ध्यान-फल का कथन

गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम्।
एकाग्रचिंतनं ध्यानं निर्जरासंवरौ फलम्।।३८।।

जिसने इन्द्रियो एवं मन को वश में कर लिया उसे ध्याता (ध्यान लगाने वाला) कहते हैं, अपने स्वरूप से स्थिति पदार्थ ध्येय (चिंतवन योग्य पदार्थ कहे जाते हैं, एकाग्र चिंतन (अन्य पदार्थों या विचारों से मन को निवृत्त कर एक पदार्थ या विचार में लगा देना) का नाम ध्यान है और कर्मो का अनागमन रूप संवर व कर्मो का भ्कड़ जाना रूप निर्जरा उसके (ध्यान के) फल माने गये हैं।

देशः कालश्च सोऽन्वेष्य सा चावस्थानुगम्यताम्।
यदा यत्र यथा ध्यानमपविघ्नं प्रसिद्ध्यति।।३९।।

ध्यान करने वाले व्यक्ति को, देश (क्षेत्र) व काल का भली प्रकार से अध्ययन करके, व उस अवस्था का भी सुष्ठु रीति से परिशीलन करे जिससे, जिस क्षेत्र में, जिस समय में व जिस रीति से ध्यान किया जाय, उसमें किसी प्रकार की बाधा न आते हुए निर्विघ्न रीत्या वह सम्पन्न होजाय।

ध्यान के आठ अंग का कथन

इति संक्षेपतो ग्राह्यमष्टांगं योगसाधनम्।
विवरीतुमदः किंचिदुच्यमानं निशम्यताम्।।४०।।

इसप्रकार से योग को साधने के लिये कारणीभूत, जो संक्षेप से, आठ अंग कहे गये है उनको अंगीकार करना चाहिये। अतः आगे इन्हीं आठ आगों का विवेचन किया जाता है, उसे ध्यान पूर्वक सुनो।

ध्याता का स्वरूप

तत्रासन्नभिवेन्मुक्तिः किंचिदासाद्यकारणम्।
विरक्तः कामभोगेभ्यस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः।।४१।।
अभ्येत्य सम्यगाचार्य दक्षिां जैनेश्वरीं श्रितः।
तपः संयमसम्पन्नः प्रमादरहिताशयः।।४२।।
सम्यग्निर्णीतजीवादिध्येयवस्तुव्यवस्थितिः।
आर्त्तरौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसत्तिकः।।४३।।
मुक्तलोकद्वयापेक्षः षोढाशेषपरीषहः।
अनुष्ठितक्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः।।४४।।
महासत्त्वः परित्यक्तदुर्लेश्याशुभभावनः।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य सम्मतः।।४५।।

निम्नलिखित गुणों से सम्पन्न व्यक्ति धर्मध्यान का चिंतवन करने का (ध्याने का) अधिकारी माना गया है :-

जिसका कर्म जाल से मुक्ति का समय समीप आगया है अर्थात् जो निकट भविष्य में कर्म मल से छूटने वाला हो, किसी कारण को प्राप्त कर जो ऐन्द्रियिक विषय भोगों से विरक्त होचुका हो, जिसने सम्पूर्ण परिग्रहों को छोड दिया हो, जिसने आदरणीय प्रशस्त व समीचीन आचार्य के समीप पहूंच कर जिनोपदिष्ट दिगंबरी दीक्षा को धारण कर लिया हो, जो तप एवं संयम से सम्पन्न हो, जिसका आशय प्रमाद से रहित हो, जिसने जानने व चिंतवन करने योग्य जीवादिक पदार्थों की अवस्थिति (स्वरूप) का सुचारु रीति से निर्णय कर लिया हो, जिसने आर्त्त एवं रौद्र परिणामों के परित्याग से चित्त में निर्मलता सम्पादित कर ली हो, जिसने दोनों (इहलोक एवं परलोक) लोक सम्बन्धी विषय भोगों की आकांक्षा का परित्याग कर दिया हो, जिसने सम्पूर्ण परीषहों को सह लिया हो, जिसने समस्त क्रिया योगों का अनुष्ठान कर लिया हो, जिसने ध्यान धारण हेतु उद्यम किया हो तथा जिसने कृष्णनीलादि रूप अशुभ परिणामों वाली खोटी लेश्याओं का परित्याग कर दिया हो ऐसे सर्व गुणों से संपन्न जो महा शक्ति व पौरुष के धारण करने वाले नरपुंगव हैं वे धर्मध्यान के ध्याता माने गये है।

ध्यान के स्वामी

अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः।
धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः।।४६।।

तत्वार्थशास्त्र में, अप्रमत्त, प्रमत्त, देशविरत, अविरतसम्यग्दृष्टि अर्थात क्रमशः सातवें, छटवें, पांचवें व चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जो जीव हैं वे धर्मध्यान के ध्याता या स्वामी कहे गये हैं। अर्थात् उपरिनिर्दिष्ट चार प्रकार के जीव धर्मध्यान के स्वामी हैं।

धर्मध्यान के भेद

मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितेरष्वौपचारिकं।।४७।।

धर्मध्यान, मुख्य व उपचार के भेद से दो प्रकार का है। अप्रमत्त (सातवें) गुणस्थानवर्ती जीवों के मुख्य धर्मध्यान होता है। बाकी बचे हुए उपरिलिखित तीन प्रकार के स्वामियों को औपचारिक धर्मध्यान होता है।

सामग्री भेद से ध्यान में भेद

द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री ध्यानोत्पत्तौ यतस्त्रिधा।
ध्यतारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा।।४८।।

चूंकि ध्यान की उत्पत्ति के लिये कारणीभूत द्रव्यक्षेत्रादि रुप सामग्री तीन प्रकार की है अतः ध्यान करने वाले व्यक्तियोंके तीन प्रकार हैं तथा उन व्यक्तियों का ध्यान भी तीन प्रकार का है अर्थात् द्रव्य क्षेत्रादि सामग्री उत्तम मध्यम व जघन्य के भेद से तीन प्रकार की है अतः उसके निमित्त से ध्याता व ध्यान भी तीन प्रकार के हैं।

उत्तम मध्यम व जघन्य ध्यान का विवेचन

सामग्रीतः प्रकृष्टाया ध्यातरि ध्यानमुत्तमम्।
स्याज्जद्यन्यं जघन्याया मध्यमायाम्तु मध्यमम्।।४९।।

उत्तम सामग्री का योग मिलने पर ध्यान करने वाले व्यक्ति में उत्तम दर्जे का ध्यान होता है व जघन्य सामग्री का योग मिलने पर उसी व्यक्ति के जघन्य दर्जे का, व मध्यम दर्जे की सामग्री का सम्पर्क स्थापित होने पर मध्यम दर्जे का ध्यान होता है।

धर्मध्यान धारण करने की योग्यता

श्रुतेन विकलेनापि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्मध्यानस्य सुश्रुतः।।५०।।

अच्छी तरह से विकाश को प्राप्त होगई है बुद्धि जिसकी ऐसा ध्यान करने वाला व्यक्ति यदि श्रेणी (उपशम या क्षपकश्रेणी) चढ़ने के पहिले २ वह श्रुतज्ञान से विकल भी हो अर्थात् उसका पूर्ण विकाश भी न हुआ हो फिर भी वह धर्मध्यान का अधिकारी कहा गया है।

धर्म व धर्म्यध्यान की परिभाषा

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्धयानमभ्यधुः।।५१।।

धर्म के ईश्वर जो गणधरादिक हैं वे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। उस धर्म से अनपेत (युक्त या सहित) जो चिंतन है उसे धर्म्यध्यान कहते है।

आत्मनः परिणामो यो मोहक्षोभविवर्जितः।
स च धर्मोनपेतं तत्तस्मात्तद्धर्म्यमित्यपि।।५२।।

मोह और क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम या परिणति है सो धर्म है उस धर्म से युक्त जो चिंतन होता है उसको भी धर्म्यध्यान कहते हैं।

शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः।
तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः।।५३।।
ततोऽनपेतं यज्ज्ञातं(नं) तद्धर्म्यं ध्यानमिष्यते।
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः।।५४।।

यदि यह संसार स्वभाव से न रहता तो शून्य हो जाता, और चूंकि यह संसार स्वरूप से स्थिर रहता है इसलिये बडे २ योगीजन वस्तु स्वरूप को धर्म कहते हैं। उस वस्तु स्वरूप से युक्त जो ज्ञान है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं। वस्तु के याथात्म्य को ऋृषि प्रणीत-धर्मग्रन्थों में धर्म माना पया है।

यम्तूत्तमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतया परः।
ततोऽनपेतं यद्धयानं तद्वा धर्म्यमितीरितम्।।५५।।

जो उत्तम क्षमा मार्दवादि रूप दश प्रकार का धर्म माना गया है, उससे युक्त जो ध्यान (चिंतन) होता है उसे भी धर्म्यध्यान कहा गया है।

ध्यान का लक्षण

एकग्रचिंतारोधो यः परिस्पंदेन वर्जितः।
तद्धय़ानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम्।।५६।।

परिस्पन्द (चंचलता) से रहित जो एक पदार्थ की ओर चित्त वृत्ति को, अन्य पदार्थों से हटाकर, लगाये रखना सो ध्यान है। वह ध्यान कर्म-निर्जरा व कर्मों के आगमन के रोक़ने के लिए कारण है।

एकाग्रचिंतारोध पद का अर्थ

एकं प्रधानमित्याहुरग्रमालंबनं मुखम्।
चिंतां स्मृतिं निरोधं तु तस्यास्तत्रैववर्तनम्।।५७।।

एक कहते हैं प्रधान को, अग्र कहते हैं मुख को या आलम्बन को, चिन्ता कहते हैं स्मरण को, और उसके (चिन्ता के) वहीं (अग्रभाग में लगे रहने को निरोध कहते हैं)

द्रव्यपर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम।
तत्र चिंतानिरोधो यस्तद्ध्य्यानं बभणुर्जिनाः।।५८।।

वस्तु के द्रव्य व पर्यायात्मक स्वरूप में से जिसमें प्रधानता स्थापित की हो, उसी स्वरूप में चिन्ता के लगाये रखने को, जिनेन्द्रदेव ध्यान कहते हैं।

एकाग्रपद का सार्थकता

एकाग्रग्रहण चात्र वैयग्य्रविनिवृत्तये।
व्यग्रं ह्यज्ञानमव स्यद्ध्य्यानमेकाग्रमुच्यते।।५९।।

व्याकुलता अथवा चचलता का परिहार करने के लिए, ध्यान के लक्षण में, एकाग्रपद का ग्रहण किया गया है क्योंकि चंचलता का अभाव होजाना इसका ही नाम ध्यान है। अज्ञानता का नाम ही व्यग्रता है व एकग्रता अन्य पदार्थों से निवृत्त होते हुए एक पदार्थ का चिंतवन करना) का नाम ध्यान है।

प्रत्याहृत्य यदा चिंतां नानालंबनवर्तिनीम्।
एकालंबन एवैनां निरुणद्धि विशुध्द्धीः।।६०।।
तदास्य योगिनो योगश्चिंतैकाग्रनिरोधनम्।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्य्यानं स्वेष्टफलप्रदम्।।६१।।

कषायादि मल के निकल जाने से निर्मल होगई है बुद्धि जिसकी ऐसा योगी, नाना वस्तुओं में लगी हुई चिंता को (विचारों को) उनसे खींचकर एक पदार्थ के चिंतवन में ही लगाये रखता है, उसमें ही रोके रखता है, तब उस योगी का वह योग, अपने अभीप्सित मनोरथ की सिद्धि करने वाला ध्यान कहलाता है। उसी को, चिंता का एक ओर लगाये रखना, प्रसंख्यान, समाधि या ध्यान कहते हैं।

दूसरी तरह से ध्यान का अर्थ

अथवांगति जानातित्यग्रमात्मा निरुक्तितः।
तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतिः।।६२।।

उपर कहे हुए ध्यान के लक्षणमें आये हुए पदों का निरुक्ति से भी अर्थ घटित करते हुए आचार्य कहते हैं कि ``अंगति जानाति इति अग्रं'' जो जानता हो उसका नाम अग्र है इस निरुक्ति से अग्र शब्द का अर्थ हुआ आत्मा तथा चूंकि माने गये तत्वों में सबसे पहिले गिना जाता है इसलिये भी आत्मा को अग्र कहते हैं।

द्रव्यार्थिकनयादेकः केवलो वा तथोदितः।
अतःकरणवृत्तिम्तु चिंतारोधो नियंत्रणा।।६३।।
अभावो वा निरोधः स्यात्स च चिंतांतरव्ययः।
एकचिंतात्मको यद्वा स्वसविच्चिंतयोज्भिकतः।।६४।।

तथा द्रव्यार्थिक नय से एक का नाम केबल कहा गया है, अन्तःकरण की वृत्ति की चिंता कहते हैं, नियन्त्रण अथवा रोके रखने को रोध कहते हैं, निरोध शब्द का अर्थ अभाव भी है तो जो कि अन्य चिंताओं के न होने रूप है। इसप्रकार एक चिंतारूप अथवा अन्य चिंताओं से रहित स्वसंवेदन को ध्यान कहते हैं।

तत्रात्मन्यसहाये यच्चिंतायाः स्यान्निरोधनम्।
तद्धयानं तदभावो वा स्वसंवित्तिमयश्च सः।।६५।।

एक का अर्थ है सहाय रहित तथा अग्र का अर्थ है आत्मा उसमें जो मनोवृत्ति को लगाये रखना सो ध्यान है। इसी को अन्य चिन्ताओं का नाश कहते हैं, जो कि स्वसंवित्तिमय है।

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चलम्।
स्वर्गापवर्गफलंद ध्यानमांतर्मुहूर्त्ततः।।६६।।

रागद्वेष से रहित, यथार्थ, अत्यंत निश्चल श्रुतज्ञान को ध्यान कहते हैं, जो अंतर्मुहूर्त तक रहता है व स्वर्ग तथा मोक्ष रूप फल को देनेवाला है।

व्याकरण शास्त्र से ध्यान का अर्थ

ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते।।६७।।

जिसके द्वारा चिंतवन किया जाता है उसे ध्यान कहते हैं, अथवा जो ध्यान करता है ऐसी आत्मा का भी नाम ध्यान है, जिस क्षेत्र में ध्यान किया जाता है उसे भी ध्यान

कहते हैं तथा चिंतवन करना इस रूप जो क्रिया है उसकी भी ध्यान संज्ञा है।

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः।
ततः स्थिर मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्विकम्।।६८।।

चूंकि योगी गण श्रुतज्ञान रूपी मन के द्वारा चिंतवन किया करते हैं अतः तात्विक श्रुतज्ञान को या स्थिर मन को ध्यान कहते है।

ज्ञानादर्थान्तरात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्त्तितम्।।६९।।

आत्मा ज्ञान से भिन्न या पृथक सत्ता रखने वाला पदार्थ नही है, तथा ज्ञान भी आत्मा से पृथक् सत्ता रखनेवाला पदार्थ नहीं है। इसलिये पूर्वापरीभूत जो एक ज्ञान है उसको ही आत्मा कहते हैं।

ध्यता ही का नाम ध्यान है

ध्येयार्थालंबनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातेव ध्यानमुच्यते।।७०।।

चिंतवन करने योग्य पदार्थो का अवलंबन ले जो ध्यान होता है, वह, ध्यान करने वाले व्यक्ति से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है इस लिये द्रव्यार्थिक नय के दृष्टिकोण से ध्याता को ही वह ध्यान कह देते हैं।

ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितैः।
तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माधिकरणद्वयम्।।७१।।

चंकि निश्चयनम का आश्रयण करनेवाले पुरुषपुंगव ध्येय को ध्याता में चिंतते हैं, इसलिये कर्म (ध्येय पदार्थ, जिसका आश्रय ले ध्यान किया जाता है) व अधिकरण (जिसमें चिंतवन किया जाता है) ये दोनों भी ध्यान कह दिये जाते हैं।

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी।
ज्ञानांतरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता।।७२।।

किसी भी इच्छित-ध्यान करने योग्य-पदार्थ में, जो संतान-वर्तिनी लड़ीबद्ध स्थिरबुद्धि होती है जिसमें अन्य किसीज्ञान का संपर्क नहीं पायाजाता उसे ही ध्याति अथवा ध्यान कहते हैं।

षट् कारक मयी आत्मा का ही नाम ध्यान है

एकं च कर्त्ता करण कर्माधिकरणं फलम्।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्त निश्चयान्नयात्।।७३।।
स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।
षटकारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात्।।७४।।

ज्यादा कहां तक कहें, निश्चयनम से देखा जाय तो एक जो ध्यान है, वही कर्त्ता है, कर्म है, करण है, अधिकरण है और फल है। ऐसा क्यों मानागया है, इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं, चूंकि निश्चयनय की अपेक्षा इस आत्मा के द्वारा (कर्त्तां, करण) स्वयं के लिये (संप्रदान) अपनी ही आत्मा से (अपादान) अपनी आत्मा में (अधिकरण), स्व आत्माका (संबंध) चिंतवन किया जाता है अतः छह कारक रुप जो आत्मा हैं उसका ही नाम ध्यान है।

ध्यान की सामग्री

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने।।७५।।

सर्व प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना, कषायों का दमन करना, व्रतों को अंगीकार करना तथा मन एवं इन्द्रियों का जय करना यही सब ध्यान की उत्पत्ति के लिए सामग्री मानीगई है।

इन्द्रिय जय करने की विधि

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः।।७६।।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति व निवृत्ति करने में मन ही समर्थ है इसलिये मन को ही वश में करना चाहिये, मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर आत्मा जितेन्द्रिय सहज ही होजाता है।

ज्ञानवैराग्यरज्जूभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रियवाजिनः।।७७।।

जिसने मन पर विजय प्राप्त कर ली है ऐसे व्यक्ति के द्वारा नित्य ही हिंसादि पाप रूप कुमार्ग की ओर मुडने वाले इन्द्रिय रूपी घोडे, ज्ञान व वैराग्य रूपी लगाम के द्वारा

वश में किये जा सकते हैं अर्थात् मन का जीतने वाला पुरुष ही ज्ञान व वैराग्य की सहायता से इन्द्रियों को अपने वश में कर सकता है।

येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः।
स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः।।७८।।

वह चंचल मन जिम उपाय के द्वारा वशमें किया जासकता है उसी उपाय की उपासना करनी चाहिये। उससे जरा भी-तनिक देर के लिये भी न हटे।

मन के वश्ञ करने का उपाय

सचिंतयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्यव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः।।७९।।

स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों से परान्मुख (उदासीन) हुआ साधु, अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करता हुआ व हमेशा ही स्वाध्याय में तत्पर होता हुआ, मन को अवश्य ही वश में कर लेता है।

स्वाध्यायः पर मस्तावज्जपः पंच नमस्कृतेः।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्र यैकाग्रचेतसा।।८०।।

एकाग्र चित्त से पंच णमोकार मंत्र का जप करना, सब से बडा स्वाध्याय है अथवा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों का पढ़ना सो भी परम स्वाध्याय कहलाता है।

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।८१।।

स्वाध्याय को समाप्त कर लेने पर ध्यान करना चाहिये और ध्यान करने से भी ऊब जाने पर स्वाध्याय करने में लग जाना चाहिये कारण कि ध्यान और स्वाध्याय करते रहने से ही परमात्माकर्म मल रहित शुद्ध आत्मा-प्रकाशित होने लगता है।

शंका व उसका समाधान

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति।
तेर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयम्।।८२।।

जो लोग यह कहते हैं कि `वर्तमान काल (पंचमकाल) ध्यान के अभ्यास के लिये

अथवा ध्यान के लिए योग्य नहीं है," वे लोग स्वयमेव अरहंत देव के द्वारा प्रतिपादित मत की अपनी अजानकारी व्यक्त कर रहे हैं।

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहु श्रेणीभ्यां प्राग्विवार्तिनाम्।।८३।।

अरे जिनेन्द्र भगवान ने तो यहां-इस कलिकाल पंचम काल में-शुक्लध्यान के होने के लिये मना किया है अर्थात् वह नहीं हो सकता है किन्तु उपशम व क्षपक श्रेणीसे नीचे के गुणस्थानोंमें पायेजाने वाले जीवों के धर्मध्यान हो सकता है ऐसी उनकी (अर हंतदेव की) आज्ञा है।

आगम वाक्य का औचित्य

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम।।८४।।

शास्त्र में जो यह कहा गया है कि ध्यान वज्रवृषभनाराच संहनन वांले के होता है सो वह श्रेणी के गुणस्थानों में पाये जाने वाले ध्यान (शुक्लध्यान) को लक्ष्यमें रखकर कहा है। वह कथन नीचे के गुणस्थानों में पायेजाने वाले ध्यान का निषेध करने वाला नहीं है।

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य श्रुतसागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः।।८५।।

अगम अगाध आगम समुद्र के पार पहुंचे हुए, ध्यान करने वाले मुनि यदि वर्तमान समय में नहीं पाये जाते हैं तो क्या इसका यह अर्थ है कि अल्प श्रुतज्ञान के धारी अन्य मुनिगणों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार ध्यान (धर्मध्यान) नहीं करना चाहिये ? नहीं, ऐसा अर्थ कभी भी नहीं लगाया जा सकता।

चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः।।८६।।

यदि इस पंचम काल में, यथाख्यात चारित्र के परिपालन करने वाले नहीं पाये जाते है, तो क्या अन्य तपस्वी गण अपनी शक्ति के अनुसार अन्य चारित्र का आचरण नही करे ? नहीं, उन्हें अपनी शक्ति के अनुसार, यथाख्यात चारित्र से अतिरिक चारित्रों का आचरण करना चाहिये।

सम्यग्गुरूपदेशेन सभभ्यस्यन्ननारतम्।
धारणासौष्ठवाद्ध्यान प्रत्ययानपि पश्यति।।८७।।

समीचीन गुरुओं के उपदेश से निरंतर अभ्यास करता हुआ पुरुष, धारणओं की पटुता, निपुणता, सुकरता या अनायास सिद्धि से, ध्यान तथा उसके कारणो को भी जानने लग जाता है।

यथाभ्यासेन शास्त्रणि स्थिराणि स्युमहान्यपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभेताभ्यासवर्तिनाम्।।८८।।

जिनसप्रकार बार २ अभ्यास करने से बडे २ शास्त्र संबन्धी ज्ञान स्थिर हो जाते हैं वैसे ही ध्यान के अभ्यास में तत्पर रहने वाले व्यक्तियों का ध्यान भी स्थिर हो जाता है।

यथोक्तलक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यथा।
तदेव परिकर्मादौ कृत्वा ध्यायतु धीरधीः।।८९।।

जैसे लक्षण कहे जा चुके हैं वैसे लक्षणों से संपन्न ध्याता, ध्यान करने के लिये उत्सुक हो त्योंही उसे पहिले सब साधन व सामग्री (परिकर्म) को जुटा धीर-स्थिरबुद्धि वाला हो ध्यान करना चाहिये।

ध्यान करने के साधन व सामग्री

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि।
स्त्रीपशुक्लीबजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे।।९०।।
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशम्ते प्रासुक समे।
चेतनोचतनाशेषध्यानविध्नविवर्जिते।।९१।।
भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत्।।९२।।
नासाग्रन्यस्तनिष्पदलोचनं मन्दमुच्छवसन्।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः।।९३।।
प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः।
चिंतां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि।।९४।।

निरस्तनिद्रो निर्भोतिर्निरालस्यो निरन्तरम्।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यातदेतांर्विशुद्धये।।९५।।

दिन अथवा रात्रि के समय, जंहां स्त्री, पशु, नपुंसक अथवा चुद्र जीव जन्तु भी नहीं पहुंचसकते ऐसे सूनेधरमें, पर्वतकी गुफामें अथवा अन्य कहीं दूसरे स्थान में जो प्रशस्त हो, जीव रहित हो, समतल हो तथा चेतन वा अचेतन पदार्थों के द्वारा होने वाले संपूर्ण विध्नों से रहित हो ऐसे पृथ्वीतल पर अथवा शिलापट्टक पर सुखपूर्वक बैंठते हुए अथवा जिसमें शरीर के अवयवोंका कंपन नहीं हो रहा है इस रूप से सीधे, सरल, लम्बे खडे रहते हुए, नासिकाके अग्रभाग में लगा रक्खा है निष्पलक नेत्रों को जिसने ऐसे ध्यान करने वाले व्यक्ति को मंद २ रुप से उछ्वास लेते हुए तथा बत्तीस दोषोंसे रहित होतेहुए कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये। इतना ही नही किन्तु इन्द्रिय रूपी चोरों को, अपने २ रुप रस आदि विषयों से बडे यत्न से हटाकर तथा समस्त पदार्थो से मनको हटाकर ध्येय वस्तु में लगाना चाहिये और हमेशा निद्रा-भय तथा आलस्य से रहित होते हुए, अतरंगशुद्धि (कर्ममल से रहित शुद्ध दशा) की प्राप्ति के लिये हमेशा ही स्वरुप व पररूप चिंतवन करना चाहिये।

ध्यान के भेद

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे।
स्वरूपालंबनं पूर्वं परालम्बनमुत्तरम्।।९६।।

निश्चय व व्यवहार के भेद से ध्यान, शास्त्रों में दो प्रकार का कहा गया है। उसमे से पूर्व जो निश्चय ध्यान है वह स्वरुप का आलंबन लेकर होता है तथा उत्तर जो व्यवहार ध्यान है वह पर पदार्थों का आलंबन लेकर होता है।

भेदों का स्वरूप

अभिन्नमाद्यमन्यत्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते।
भिन्ने हि विहिताभ्योऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः।।९७।।

आद्य जो निश्चय ध्यान है वह अभिन्न है उसमें स्व तथा पर का एवं ध्यान-ध्याता-ध्येय का तथा कर्त्ता-कर्म-करण-संप्रदानाधिकरण का भेद नहीं पाया जाता है दूसरा व्यवहार ध्यान भिन्न है उसमें ध्याता-ध्येय आदि का भेद पाया जाता है। भिन्न (व्यवहार) ध्यान में जिसने अभ्यास किया है वह निराकुल हो अभिन्न को ध्या सकता है।

आज्ञापायो (यौ) विपाक च संस्थानं भुवनस्य च।
यथागममविक्षिप्तचेतसा चिंतयेन्मुनिः।।९८।।

मुनि निराकुल चित्तसे, आज्ञा, अपाय, विपाक व लोक के आकार का आगम के अनुसार चिंतवन करे।

ध्येय के भेद

नाम च स्थापनं द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम्।
समस्तं व्यस्तमप्येतद्ध्येयमध्यात्मवेदिभिः।।९९।।

अध्यात्म के जाननेवालों ने ध्येय (ध्यान करने योग्य) को नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव, इस तरह चार प्रकार का बतलाया है, सो यह समस्त तथा पृथक २ रुप से ध्यान करने योग्य है।

ध्येय भेदों का स्वरूप

वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता।
गुणपर्यपवद्द्रव्यं भावः स्याद्गुणपर्ययौ।।१००।।

वाच्य के कहने वाले को नाम, प्रतिमा को स्थापना, गुण पर्याय वाले को द्रव्य तथा गुणा पर्यायों को भाव कहते हैं।

नाम ध्येय का वर्णन

आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति।
हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येयं तदर्हताम्।।१०१।।

हृदय में उठता हुआ तथा प्रकाशमान जो अरहंत देवों का नाम, जो कि आदि मध्य और अंतमें समस्त वाङ्मय को व्याप्त कर के रह रहा है, वह ``नाम'' नामक ध्येय है।

हृत्पंकजे चतुःपत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम्।
असिआउसाक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम्।।१०२।।

चार पत्र वाले (तथा बीच में कर्णिका वाले ऐसे) हृदयकमल में दैंदीप्यमान पंच परमेष्ठी वाचक ``अ. सि. आ. उ. सा.'' अक्षरों का प्रदक्षिणा रुप से ध्यान करना चाहिये।

ध्यानेदइउएओ च तद्दून्मंत्रानुदर्चिषः
मत्यादिज्ञानमानानि मत्यादिज्ञानसिद्धये।।१०३

उसी तरह ``अ.इ.उ.ए.ओ.'' इन उज्ज्वल मंत्रों का ध्यान करे, और मति आदिक ज्ञानों की सिद्ध के लिये मत्यादिक ज्ञानों के नामों का ध्यान करे।

सप्ताक्षरं महामंत्रं मुखरंध्रेषु सप्तसु।
गुरूपदेशतो ध्यायेदिच्छन् दूरश्रवादिकम्।।१०४।।

दूरश्रवादि (नियत सीमा से भी दूरके शब्दों का सुन सकना तथा दूर के रूप रस गंध व स्पर्शों को क्रमशः देखने, चखने, सूंघने तथा छूने की योग्यता रुप) ऋद्धियों को चाहता हुआ, गुरुओं के उपदेश से, मुख के सात+छिद्रों में, सात अक्षर वाले ``णमो अरहंताणं'' महामंत्र का ध्यान करे।

हृदयेऽष्टदलं पद्मं वर्गैः पूरितमष्टभिः।
दलेषु कर्णिकायां च नाम्नाधिष्ठितमर्हताम्।।१०५।।
गणभृद्वलयोपेतं त्रिःपरीत च मायया।
श्रोणीमडलमध्यस्थ ध्यायेदभ्यर्च्च(र्च) येच्च तत्।।१०६।।

हृदय में आठ दल का कमल बनावे, उसकी आठों हीं पाखुड़ियों को आठ वर्गों से पूरित करे और मध्यभाग (कर्णिका) में अरहंत का नाम स्थापित करे। तद्नन्तर गणधर वलय से सहित, माया से तीन बार धिरे हुए एवं पृथ्वीमंडल के मध्य में स्थित उस अष्ट दलवाले कमल का ध्यान करे तथा पूजा करे।

अकारादिहकारान्ताः मंत्राः परमशक्तयः।
स्वमंडलगता ध्येया लोकद्वयफलप्रदाः।।१०७।।

अपने २ मंडलों में प्राप्त हुए अकार को आदि लेकर हकार तक के बडी २ शक्तियों के रखने वाले मंत्रो का ध्यान करे जो कि दोनों लोकों (इहलोक व परलोक) में फल देने वाले हैं।

+ सात छेद-२ कान के, २ आंख के, २ नाक कै, १ मुख का, इस तरह कुल सात छेद होते है।

इत्यादीन्मंत्रिणो मंत्रानर्हन्मंत्रपुरस्सरान्।
ध्यायति यदिह स्पष्टं नामध्येयमवैहि तत्।।१०८।।

अरहन्त मंत्र है आदिमें जिन्होंके ऐसे समस्त मंत्रोंका जो योगी उन ध्यान करते हैं सों उन समस्त मंत्रों को ``नाम'' नामका ध्येय समझो।

स्थापना नामक ध्येय का स्वरूप

जिनेन्द्रप्रतिबिम्बानि कृत्रिमाण्यकृतानि च।
यथोक्तान्यागमे तानि तथा ध्यायेदशंकितम्।।१०९।।

कृत्रिम (वनाई गई) और अकृत्रिम (बिना बनाई हुई) जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं का जैसा आगम में वर्णन किया गया है उनका वैसा ही निःशंकित होकर ध्यान करे। यह ``स्थापना'' नामक ध्येय का स्वरूप है।

द्रव्य नामक ध्येय का स्वरूप

यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम्।
तथैव सव्वेदा सर्वमिति तत्व विचिंयेत्।।११०।।

``जैसे एक द्रव्य, एक समय में, उत्पाद व्यय व ध्रौव्य वाला है वैसे ही समस्त वस्तु (तत्व) हमेशा उत्पाद व्यय व ध्रौव्य वाले हैं'' ऐसा चिंतवन करे। इसमें द्रव्य नामक ध्येय का वर्णन किया गया है।

भाव नामक ध्येय का स्वरूप

चेतनोऽचेतनो वार्थो यो यथैव व्यवस्थितः।
तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते।।१११।।

जो चेतन व अचेतन पदार्थ जिस रूप में ब्यवस्थित है उस का उसी रूप में जो होना है उसको याथात्म्य या तत्व कहते हैं। हसमें भाव नामक ध्येय का संकेत किया गया है।

अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणं।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले।।११२।।

जैसे जल में जल की लहरें वैसे ही अनादि निधन द्रव्य में प्रतिसमय अपनी २ पर्यायें

पैदा होती व नष्ट होती रहती हैं।

प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप

यद्विवृत्तं यथापूर्वं यच्च पश्चाद्विवर्त्स्यति
विवर्तते यदत्राद्य तदेवेदमिदं च तत्।।११३।।

जो पहिले (भूतकालमें) हो चुका, जो आगे (भविष्य में) होगा और जो अभी (वर्तमान में) होरहा है बह सब द्रव्य हैं जिससे `तदेव इदम' और `इदं च तत्' इस रुप से प्रत्यभिज्ञान होता है।

गुण, पर्याय, द्रव्य के लक्षण

सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्तिनः।
स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः।।११४।।

हमेंशा साथ रहने वालों को गुण और क्रम से होने वालों को पर्याय कहते हैं तथा इन दोनों स्वरूपों को लिये हुए द्रव्य है और ये दोनों द्रव्यात्मक हैं अर्थात् द्रव्य गुण पर्यायों से व गुण पर्याय द्रव्य से पृथक सत्ता रखनेवाले नहीं हैं।

एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकम्।
प्रतिक्षणमनाद्यंतं सर्व्वं ध्येयं यथास्थितम्।।११५।।

इस प्रकार से यह द्रव्य अनाद्यनंत (अनादिकाल से लेकर अनन्त काल तक रहनेवाला) है और प्रति समय स्थिति उत्पत्ति व व्यय को लिये हुए है, सो सब जैसा पाया जाता हे वैसा ध्यान करने योग्य है।

अर्थव्यंजनपर्याया मूर्तामूर्ता गुणाश्च ये।
यत्र द्रव्ये यथावस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत्।।११६।।

और जो अर्थपर्याय, व्यंजनपर्याय, तथा मूर्त अमूर्त गुण, जिस द्रव्य में जिस रूप से पाये जाते हैं उनको उसमें उसी तरह स्मरण करे।

छह प्रकार के द्रव्यों में जीवद्रव्य, उत्तम ध्येय है

पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथांबरम्।
षड्विधं द्रव्यमाम्नातं तत्र ध्येयतमः पुमान्।।११७।।

पुरुष (जीव) पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म तथा आकाश, ये छह प्रकार के द्रव्य कहे गये हैं। वे सबके सब ध्येय हैं किन्तु उनमें भी पुरुष सबसे उत्तम ध्येय है।

पुरुष ध्येयतम क्यों :-

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततो ज्ञानस्वरुपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः।।११८।।

कारण कि ज्ञाता के होने पर ही ज्ञेय, ध्येयता को प्राप्त करता है अतः ज्ञान स्वरूप यह आत्मा सबसे उत्तमध्येय कहा गया है।

पुरुष में भी परमेष्टी विशेषकर ध्येय हैं

तत्रापि तत्त्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धः स्वामीति निष्कलः।।११९।।

पुरुषों में भी, साररूप होने से पांच परमेष्ठियों का ध्यान करना चाहिये। इन पांच परमेष्ठियों में से चार परमेष्ठी, शरीर सहित हैं, सिद्ध परमेष्ठी शरीर रहित हैं।

- सिद्ध परमेष्ठी का स्वरुप -

अनंतदर्शनज्ञानसम्यक्त्वादिगुणात्मकम्।
स्वोपात्तानंतरत्यक्तशरीराकारधारिणः (णम्)।।१२०।।
साकारं च निराकारममूर्त्तमजरामरम्।
जिनबिंबमिव स्वच्छस्फटिकप्रतिबिंबितम्।।१२१।।
लोकाग्रशिखरारुढमुदूढसुखसंपदम्
सिद्धात्मानं निराबाधं ध्यायेन्निर्धूतकल्मषम्।।१२२।।

जो अनंत दर्शन, ज्ञान, सम्यक्त्व आदि गुणों कर सहित हैं, सिद्ध अवस्था से ठीक पहिले छोडे हुए शरीर-जिसे कि पहिले ग्रहण कर रक्खा था-के आकार को धारण करने वाले हैं, इसलिये साकार हैं किन्तु अमूर्त (रूप, रस गंध, व स्पर्श रहित) होने से जो निराकार हैं, अजर हैं अमर हैं जो स्वच्छ स्फटिक मणि में झलके हुए (प्रतिबिंबित हुए) जिनबिंब के समान हैं, जो लोकाग्र के शिखर में विराजमान हैं, सुख सम्पत्ति से समन्वित हैं, जिन्होंने संपूर्ण कर्ममल को नष्ट कर दिया है ऐसे बाधाओं से रहित सिद्ध आत्मा को ध्यावे।

अर्हन्त परमेष्ठी का स्वरुप

तथाद्यमाप्तमाप्तानां देवानामधिदैवतम्।
प्रक्षीणघातिकर्माणं प्राप्तानंतचतुष्टयं।।१२३।।
दूरमुत्सृज्य भूभागं नभस्तलमधिष्ठितं।
परमौदारिकस्बांगप्रभाभर्त्सितभास्करं।।१२४।।
चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यैः प्रातिहार्यैश्च भूषितं।
मुनितिर्यङ्नरस्वर्गिसभाभिः सन्निषेवितं।।१२५।।
जन्माभिषेकप्रमुखप्राप्तपूजातिशायिनं।
केवलज्ञाननिर्णीतविश्वतत्त्वोपदेशिनं।।१२६।।
प्रभास्वल्लक्षणाकीर्णसम्पूर्णोदग्रविग्रहं
आकाशस्फटिकांतस्थज्वलज्ज्वालानलोज्वलं।।१२७।।
तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं।
परमात्मानमर्हंतं ध्यायेन्निःश्रेयसाप्तये।।१२८।।

तथा, जो आप्तों (पंचपरमेष्ठियों) में प्रथम आप्त हैं, जो देवों के भी देव हैं, जिन्होंने चार घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है, और इसीलिये जिन्हें अनंतचतुष्टय (अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य व अनंतसुख) प्राप्त हुए हैं, जो पृथ्वीतल को दूर छोड़कर अर्थात् पृथ्वीतल से चारअंगुल ऊपर नभस्तल में ठहरे रहते हैं, परम औदारिक स्वरुप अपने शरीर की प्रभा से सूर्य की प्रभा को भी नीचा कर दिया है जिन्होंने, जो चौंतीस अतिशय तथा आठ प्रातिहार्यो से सुशोभित हैं, मुनि तिर्यंच, मनुष्य व स्वर्ग के देव-समूहों के द्वारा सेवित हैं, जन्माभिषेक आदि पूजातिशयों को प्राप्तकरने वाले हैं, केवलज्ञान के द्वारा निर्णीत समस्ततत्वों के उपदेश देनेवाले हैं, जिन्होंका सम्पूर्ण उन्त शरीर, स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होनेवाले लक्षणों (१००८ चिन्ह विशेषों) से व्याप्त हो रहा है। जो, आकाशमें स्थित स्फटिक मणि में पाई जानेवाली जाज्वल्यमान ज्वालानल के समान उज्ज्वल हैं, तेजों में उत्तम तेज रूप हैं, ज्योतियों में उत्तम ज्योति रूप हैं ऐसे अरहंत परमात्मा का मोक्ष की प्राप्ति के लिये ध्यान करे।

वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षुभिः।
स्वर्गापवर्गफलदः शक्तिस्तस्य हि तादृशी।।१२९।।

यद्यपि ये अरहंत, वीतरागी हैं फिर भी, मुक्त होने की इच्छा रखनेवाले प्राणियों के द्वारा ध्याये जाने पर वे स्वर्ग और मोक्षफल को देनेवाले हैं कारण कि उनमें वैसी ही कोई अनोखी शक्ति पाई जाती है।

आचार्य उपाध्याय व साधु का स्वरूप

सम्यग्ज्ञानादिसम्पन्नाः प्राप्तसप्तमहर्धयः.
तथोक्तलक्षणा ध्येयाः सूर्युपाध्यायसाधवः।।१३०।।

तथा, प्राप्त कर लिया है सात बड़ी २ ऋद्वियों को जिन्होंने, तथा सम्यग्ज्ञानादि से सम्पन्न, जिनके लक्षण शास्त्रोंमें कहे गये हैं ऐसे आचार्य उपाध्याय व साधुओं का भी ध्यान करे।

एवं नामादिभेदेन ध्येयमुक्तं चतुर्विधम्।
अथवा द्रव्यभावाभ्यां द्विधैव तदवस्थितम्।।१३१।।

इसप्रकार नाम आदिक के भेदसे ध्येय चार प्रकार का कहा जा चुका है अथवा द्रव्य व भावके भेदसे वह (ध्येय) दो प्रकार का भी पाया जाता है।

द्रव्यध्येय व भावध्येय का स्वरूप

द्रव्यध्येयं बहिर्वस्तु चेतनाचेतनात्मकम्।
भावध्येयं पुनर्ध्येयसन्निभध्यानपर्ययः।।१३२।।

चेतन अचेतन रूप बाह्य वस्तु ``द्रव्यध्येय'' कहलाती है तथा ध्येय के आकार के समान ध्यान की पर्याय को ``भावध्येय'' कहते हैं।

ध्यायने हि बिभ्रते स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटम्।
आलेखितमिवाभाति ध्येयस्यासन्निधावपि।।१३३।।

ध्यान जब स्थिरता को धारण कर लेता है तब ध्येय के न रहने पर भी ध्येय का स्वरूप, स्फुट रीति से चित्रमें लिखे हुए की तरफ जँचता रहता है।

धातुपिंडे स्थितश्चैवं ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः
ध्येयपिंडस्थमित्याहुरत एव च केवलम्।।१३४।।

चूंकि ध्येय रूप अर्थ, पाषाण प्रतिमा आदि धातुपिंड में अथवा शरीर आदि रूप धातुपिंड में स्थित होते हुए ध्याया जाता हैं इसलिये ध्येय को ``पिण्डस्थ'' ऐसा कह दिया जाता है।

समाधि का स्वरूप व फल

यदा ध्यानबला द्धयाता शून्यीकृत्य स्वविग्रहम्।
ध्येयस्वरूपविष्टत्वात्तादृक् संयद्यते स्वयम्।।१३५।।
तदा तथाविधध्यानसंवित्तिध्वस्तकल्पनः।
स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः।।१३६।।
सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयफलप्रदः।।१३७।।

ध्यान करने वाला व्यक्ति, ध्यान के बल से अपने शरीर को शून्य कर जिस समय ध्येय स्वरूप से आविष्ट हो जाता है उस समय यह स्वयं भी वैसा (ध्येयस्वरूप) बन जाता है इतना ही नहीं किन्तु उस समय उस प्रकार की ध्यान रूपी संवित्ति से कल्पनाओं को नष्ट करते हुए वही ध्याता, परमात्मा शिव गरुड़ व मन्मथ (काम) रूप हो जाता है। बस इसी परिणति को समरसी भाव, तदेकीकरण कहते हैं। अर्थात् जो जैसे ध्येय का ध्यान करता है वह स्वयं ही बैसा बन जाता है। यही लोकद्वय (इहलोक-परलोक) में फल को देनेवाली समाधि कही जाती है।

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता।।१३८।।

ज्यादा कहने (विवेचन करने) से क्या लाभ, अरे, परमार्थ से जानकर व श्रद्धान कर उनमें माध्यस्थ्य भावको धारणा करनेवाले के लिये सारे ही पदार्थ ध्येय हो सकते हैं।

माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यअस्पृहः।
वैतृष्ण्यं परमा शांतिरित्येकोऽर्थोऽभिधीयते।।१३९।।

माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य परमशांति, ये सब शब्द एक ही अर्थ को बतलाते हैं।

संक्षेपेण यदत्रोक्त विस्तारात्परमागमे।
तत्सर्वं ध्यानपेव स्याद्ध्यातेषु परमेष्ठिषु।।१४०।।

जो यहां संक्षेप रूप से तथा परमागम में विस्तार रूप से विवेचित किया गया है वह सब, पंच परमेष्टियों के ध्यान करलेने पर, ध्यान हो जाता है।

व्यवहारनयादेवं[1] ध्यानमुक्तं पराश्रयम्।
निश्चयादधुना[2] स्वात्मालंबनं तन्निरूप्यते।।१४१।।

इस तरह अभी तक जिस ध्यान का वर्णन किया गया वह सब व्यवहार नय से कहा हुवा ध्यान समझना चाहिये कारण कि उसमें पर का-दूसरे का आलंबन लेना पड़ता है। अब निश्चय नय से ध्यान का वर्णन किया जाता है जिसमें स्व-स्वरूपका आलंबन हुवा करता है।

ध्यान का विशद विवेचन -

ब्रुवता ध्यानशब्दार्थं यद्रहस्यमवादिशत्।
तथापि स्पष्टमाख्यातुं पुनरप्यभिधीयते।।१४२।।

यद्यपि ध्यान शब्द का अर्थ समझाते हुए, उसमें जो रहस्य था उसे कह दिया गया है तथापि स्पष्ट रूप से कथन करने के लिये फिर बी कुछ कहते हैं।

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितिम्।
विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु।।१४३।।

ध्यान करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को चाहिये कि वह, स्व-पर को जैसी उनकी स्थिति है उस ढंग से, जाने व श्रद्धा करे। फिर दूसरे पदार्थों को-अपने प्रयोजन का असाधक (सिद्ध करनेवाला नहीं) समझ-छोड़ते हुए, अपने आपको ही जाने देखे व उसकी श्रद्धा करे।

पूर्व श्रुतन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः।
तत्रैकाग्रं (ग्र्यं) समासाद्य न किंचिदपि चिंतयेत्।।१४४।।

पहिले तो श्रुतज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा में संस्कार (भावनाओं) को भरे फिर उसी

---

१ पराश्रयो व्यवहारः २ स्वाश्रयो निश्चयः।

में एकाग्रता को प्राप्त कर कुछ भी चिंतवन न करे।

यस्तु नालंबते श्रौतीं भावनां कल्पनाभयात्।
सोऽवश्यं मुह्यति स्वस्मिन्वहिश्चिंतां बिभर्ति च।।१४५।।

जो कल्पनाओं के डर से कि यदि आत्मा को अनेक विशेषणों वाला ख्याल करूंगा तो चित्त नाना कल्पनाओं के जाल में फँस जायगा, श्रुत संबंधी भावनाओं का आलम्बन नहीं लेता' वह अवश्य ही अपने (आत्माके) विषय में मोह (अज्ञान) को प्राप्त हो जाता है और अन्य बाहिरी चिंताओं को करने लगजाता है।

तस्मान्मोहप्रहाणाय बहिश्चिंतानिवृत्तये।
स्वात्मानं भावयेत्पूर्वमेकाग्र्यस्य च सिद्धये।।१४६।।

इसलिये मोह को नष्ट करने के लिये, बाहिरी चिंताओं की निवृत्ति करने (हटाने या दूर करने) के लिये तथा एकाग्रता की प्राप्ति के लिये, सबसे पहिले अपने आपको आगे कहे माफिक भावित-भावनायुक्त-करे।

कैसी भावना करे उसके दिखलाते हैं :-

तथा हि चेतनोऽसख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः।।१४७।।
नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे।।१४८।।
अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनम्।
अनेकमेतदेनंकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः।।१४९।।
अचेतन भवेन्नाहं नाहमप्यस्त्यचेतनम्।
ज्ञानात्माहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्।।१५०।।
योऽत्र स्वस्वामिसम्बन्धो ममाभूद्वपुषा सह।
यश्चैकत्वभ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः।।१५१।।
जीवादिद्रव्ययाथात्म्यज्ञातात्मकमिहात्मना।
पश्यन्नात्मन्यथात्मानमुदासीनोऽस्मि वस्तुषु।।१५२।।

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः।।१५३।।
सन्नेवाहं सदाप्यस्मि स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असन्नेवास्मि चात्यंतं पररूपाद्यपेक्षया।।१५४।।
यन्न चेतयते किंचिन्नाचेतयत किंचन।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहम।।१५५।।
यदचेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा।
चेतनीय यदत्राद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहम्।।१५६।।
स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत्।
नाऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता।।१५७।।
मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन।।१५८।।
एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः।
विधान तन्मयं भावं न किंचिदपि चिंतये।।१५९।।

मैं चेतन, असंख्यात प्रदेशी, मूर्ति से रहित, ज्ञान, दर्शन लक्षण वाला, सिद्धरूप कर्म मल रहित शुद्धात्मा हूं। मैं (अहं) अन्य पदार्थ नहीं हूं और अन्य पदार्थ अहं (मैं) रूप नहींहै, मैं अन्य का नहीं हूं और न अन्य ही मेरे हैं, अन्य, अन्य है; मैं, मैं हूं; अन्य अन्य का है; मैं मेरा हूं; शरीर जुदा है, मैं जुदा हूं; मैं चेतन हूं; शरीर अचेतन है; शरीर अनेक हैं; मैं एक हूं; शरीर नश्वर है; मैं अविनाशी हूँ; संसार के अचेतन पदार्थ मैं (चेतन) रूप नहीं होते, और मैं अचेतन नही होता; मैं ज्ञानात्मा हूं, मेरा कोई नहीं है, मैं अन्य किसी का नहींहूं। जो यहां शरीर के साथ मेरा स्व-स्वामि-संबंध होरहा है व एकत्व का भ्रम होरहा है वह सब पर (कर्म) के निमित्त से हो रहा है, स्वरूप से नहीं। जीवादि द्रव्य के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला मैं अपने द्वारा, अपने में, अपने को, जैसा कि मैं हूं देखता हुआ पदार्थों के विषय में उदासीन हूं रागद्वेष रहित होता हुवा मध्यस्थ हूं। मैं सत, द्रव्य, चित्, ज्ञाता, दृष्टा, व हमेशा उदासीन स्वरूप हूं और प्राप्त हुए अपने शरीर प्रमाण हूं, व उससे

(शरीरसे) पृथक हुआ आकाश की तरह अमूर्त्त हूं। मैं सदा ही स्वरूपादि चतुष्टय (स्वद्रव्य, क्षेत्र काल, व भाव) की अपेक्षा सत्रूप हूं और पररूपादि की अपेक्षा असत्रूप हूं। जो कुछ नहीं जानते हैं, न जिनने कुछ जाना था और न भविष्य में कभी जानेगें, इस प्रकार त्रैकालिक अज्ञता को लिये हुए शरीर आदिक हैं, वैसा मैं नहीं हूं। जिसने पहले जाना था, जो आगे (भविष्यमें) जानेगा तथा वर्त्तमान में जो चिंतवन करने योग्य है, ऐसा मैं चिद् द्रव्य हूं। यह जगत स्वयं न तो अच्छा (इष्ट) है और न बुरा (अनिष्ट) है, किन्तु उपेक्षणीय है। तथा मैं भी न तो राग करने वाला हूं न द्वेष करनेवाला हूं किंतु उदासीन रुप हूं। शरीर आदिक मुझ से भिन्न हैं मै भी वस्तुतः उनसे भिन्न हूं मैं इनका कोई नहीं हूं और ये ही न मेरे कोई हैं। इस प्रकार भली भांति अपनी आत्मा को अन्य पदार्थो से भिन्न समझ, मैं तन्मयी भावों (अत्ममयी भावों) को करता हुआ, कुछ भी चिंतवन नहीं करता हूं।

चिंताभाव (ध्यान) का अर्थ तुच्छाभाव नहीं

चिंताभावो न जैनानां तुच्छो मित्यादृशामिव।
दृग्बोधसाम्यरूपस्य यत्स्वसंवेदनं हि सः।।१६०।।

मिथ्यादृष्टियों के समान जैन लोगों के यहां चिंता के अभाव को तुच्छाभाव नहीं माना है कारण कि वह, (चिंताभाव) सम्यग्दर्शन सभ्यक्ज्ञान व साम्यभाव का जो स्वसंवेदन है, उस रूप माना गया है। नीचे की पंक्ति का ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि चिंताभाव अभाव रुप नहीं है वह तो दृग-बोध के साम्यरूप का जो स्वसंवेदन है उस रूप माना गया है। इस तरह वह निषेध रूप न होते हुए विदि रूप ही है।

स्वसंवेदन का स्वरूप

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम्।।१६१।।

योगियों को जो स्वयं के द्वारा, जो स्वयं का वेद्यत्व व वेदकत्व होता है वही स्वसंवेदन कहलाता है, उसी को आत्मा का अनुभव या दर्शन कहते हैं।

स्वसंवेदन की विधि व फल

स्वपरज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य कारणान्तरम।
ततश्चिंतां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम्।।१६२।।

दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्जानन् पश्यन्नुदासिता।
चित्सामान्यविशेषात्मा स्वात्मनैवानुभूयताम्।।१६३।।
कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम्।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना।।१६४।।
यन्मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन चोज्झितम्।
तन्माध्यस्थ्यं निजं रूपं स्वस्मिन्संवेद्यतां स्वयम्।।१६५।।
न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वतः।
वितर्कास्तन्न पश्यंति ते ह्यविस्पष्टतर्कणाः।।१६६।।
उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतींद्रियम्।
स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यताम्।।१६७।।
वपुषोऽप्रतिभोसऽपि स्वातंत्र्येण चकासते।
चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि।।१६८।।
समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एव सः।।१६९।।
तदेवानुभवश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरम्।।१७०।।
यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकपते।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुच्झति।।१७१।।
तदा च परमैकाग्र्याब्दहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यत्र किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः।।१७२।।

चूंकि वह स्व और पर की ज्ञाप्तिरूप है अतः उसका अन्य और कारण नहीं है इसलिये चिंता को हटा स्वसंवित्ति के द्वारा ही अनुभवन करना चाहिये। दर्शन, ज्ञान व समतारूप होने से, जानने वाला, देखनेवाला एवं उदासीन रहनेवाला जो चित्सामान्यविशेष स्वरूप आत्मा है, उसे अपनी आत्मा के द्वारा ही अनुभव करना चाहिये। ``आत्मा कर्मजन्य (कर्म से पैदा

होनेवाले) समस्त भावों से भिन्न है, ज्ञस्वभाव है, और उदासीन है" ऐसा हमेशा स्वयं चिंतवन करे। मिथ्या-आग्रह व मिथ्याज्ञान से रहित जो आत्मा का स्वरूप है-जिसे माध्यस्थ्य भी कहते हैं-उसको अपने में स्वयं ही अनुभवन करे। वह रूपादि रहित होने से इन्द्रियज्ञान द्वारा जाना नहीं जा सकता, वितर्क भी उसे नहीं जान सकते कारण कि वे (वितर्क) अस्पष्ट तर्कणारूप होते हैं। दोनों (इन्द्रियज्ञान व वितर्क) की प्रवृत्ति रुक जानेपर, बिलकुल स्पष्ट अतीन्द्रिय, और अपने द्वारा जानने योग्य वह (माध्यस्थ्य स्वरूप) स्व संविति के द्वारा ही देखना चाहिये। शरीर का प्रतिभास (भान) न होने पर भी जो स्वतंत्र रूप से मालूम होती है, ऐसी वह ज्ञान रूप चेतना स्वयं ही दिखाई पडती है। समाधि में स्थित पुरुष को यदि ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं होता तो वह उसका ध्यान ही नहीं है अपितु वह मूर्च्छावान् है और उसकी वह मोह रूप दशा है इसलिये उस आत्माके स्वरूप का अनुभवन करनेवाला वह योगी उत्कृष्ट एकाग्रता को पाता है व स्वाधीन, वचनों के अगोचर आनन्द को प्राप्त करता है। हवा रहित प्रदेश में रक्खा हुआ दीपक जैसे कंपायमान नहीं होता वैसे ही स्वरूपनिष्ठ यह योगी एकाग्रता को नहीं छोड़ता है। उस समय परम एकाग्रता होने से अपने में अपने को देखनेवाले योगी को, बाह्य पदार्थों के रहते हुए भी अन्य कुछ नहीं दिखाई देता है।

अंतिम निष्कर्ष

अतएवान्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः।
शून्याशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते।।१७३।।

इसलिये अन्य पदार्थो की ओर से शून्य होते हुए भी आत्मा स्वरूप से शून्य नहीं होता किन्तु शून्याशून्य स्वभाव (कथंचित् शून्य एवं कथंचित् अशून्य) को लिये हुए वह आत्मा, आत्मा के द्वारा ही, प्राप्त किया जाता है।

ध्यान का ही नाम नैरात्म्याद्वैत है

ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै नैरात्म्याद्वैतदर्शनम्।
तदेतदेव यत्सम्यगन्यापोढात्म्दर्शनम्।।१७४।।

इसलिये जो मुक्ति के लिये नैरात्म्याद्वैत दर्शन माना जाता है वह यही तो है। जो भले प्रकार से, अन्य पदार्थों से रहित आत्माका दर्शन होना है अर्थात् अन्य पदार्थों से

रहित केवल स्वात्मा के दर्शन करने को ही तो नैरात्म्याद्वैत दर्शन कहते हैं।

परस्परपरावृत्ताः सर्वे भाधाः कथंचन।
नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथात्मनः।।१७५।।

सम्पूर्ण पदार्थ, किसी दृष्टि से, परस्पर व्यावृत्ति (भेद, विशेषता) को लिये हुए हैं, इसलिये जैसे जगत में नैरात्म्य है वैसे ही आत्मा में नैर्जगत्य है। अर्थात् जगत के समस्त पदार्थ यदि आत्मा से भिन्न है तो आत्मा भी सारे जगत के पदार्थों से भिन्न है।

नैरात्म्यवाद का स्वरूप

अन्यात्माभावो नैरात्म्यं स्वात्मसत्तात्मकश्च सः।
स्वात्मदर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्यदर्शनम्।।१७६।।

एक आत्मा में अन्य आत्माओं के अभाव को नैरात्म्य कहते हैं, जो कि अपनी आत्मसत्तारूप है। इसलिये स्वयं की आत्मा के दर्शन का ही नाम समीचीन नैरात्म्यदर्शन है।

द्वैताद्वैत दृष्टि

आत्मानमन्यसंपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयम्।।१७७।।

आत्मा को अन्य से संबद्ध देखनेवाला द्वैतको देखता है और आत्मा को अन्यों से विभक्त देखनेवाला अद्वैत को देखता है। इस तरह एक आत्मा का अन्य आत्मा से विभिन्न दिखाई देना, इसका नाम नैरात्म्य दर्शन है व अन्य से असंबद्ध आत्मा का दिखाई देने का नाम अद्वैतदर्शन है। दोनों में यही विशेषता पाई जाती है।

आत्मदर्शन का फल

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान्।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान्।।१७८।।

इसप्रकार एकाग्रता से आत्मा को देखता हुआ पुरुष संचित किये हुए कर्ममलों को नष्ट कर डालता है और दूर हो गया है अहंकार व ममकार भाव जिसका ऐसा वह आत्मदर्शी पुरुष अनागत (आगामी काल में बंधनेवाले) कर्ममलें) कर्ममलों को भी आने से रोक देता है।

यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिम्।
समाधिप्रत्ययाश्चास्य स्फुटिष्यन्ति तथा तथा।।१७९।।

जैसे २ समीचीन ध्यान करने वाला स्वात्मा में स्थिरता को प्राप्त करता जाता है त्यों २ उसकी समाधि के कारण प्रगट होते जाते हैं।

एतद्द्वयोरपि ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः।
विशुद्धिस्वामिभेदात्तु तयोर्भेदोऽवधार्यताम्।।१८०।।

यह स्वात्मदर्शन, धर्म्य और शुक्ल इन दोनों ही ध्यानों का ध्येय है किन्तु विशुध्दि् व स्वामी के भेद से उनमें (धर्म्य व शुक्ल ध्यान में) भेद समझना चाहिये।

स्वात्म दर्शन की दुःशक्यता व उसके लिये प्रेरणा

इदं हि दुःशकं ध्यातुं सूक्ष्मज्ञानावलंबनात्।
बोध्यमानमपि प्राज्ञैर्न च द्रागवलक्ष्यते।।१८१।।
तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च दृष्टादृष्टफलं च यत्।
स्थूलं वितर्कमालंब्य तदभ्यस्यंतु धीधनाः।।१८२।।

स्वात्मा का ध्यान करना बडा मुश्किल है क्योंकि इसमें सूक्ष्म ज्ञान का आलंबन लेना पड़ता है। यह बडे २ बुद्धिमानों के द्वारा समझाये जाने पर भी जल्दी से लक्ष्य में नहीं आता। इस लिये जो जाना जा सकता है, किया जा सकता है और जिसका फल प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि से जाना जा सकता है ऐसे स्थूल विचारों का आलम्बन ले बुद्धिमान पुरुषों कों उसका अभ्यास करना चाहिये।

ध्यानाभ्यास की विधि

आकारं मरुतापूर्य कुंभित्वा रेफवह्निना।
दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म स्वतो भस्म विरेच्य च।।१८३।।
हमंत्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि।
तेनाऽन्यत्तद्विनिर्म्माय पीयूषमयमुज्ज्वलम्।।१८४।।
तत्रादौ पिंडसिद्ध्यर्थं निर्मलीकरणाय च।
मारुतीं तैजसीमाथां (प्यां) विदध्याद्धारणां क्रमात्।।१८५।।

ततः पंचनमस्कारैः पंचपिंडाक्षरान्वितैः।
पंचस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलां क्रियाम्।।१८६।।
पश्चादात्मानमर्हंतं ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणम्।
सिद्धं वा ध्वस्तकर्माणममूर्तं ज्ञानभास्वरम्।।१८७।।

``अर्हं'' मंत्र का ध्यान करना चाहिये। उसमे से पूरक वायु के द्वारा आकार को पूरित व कुम्भित करके तथा रेफ में से निकलती हुई अग्नि के द्वारा अपने शरीर के साथ ही साथ कर्मों को जलावे। शरीर व कर्म के जलने से तैयार हुई भस्म का विरेचन कर ``ह' मंत्र का, जिसमे कि अमृत जर रहा हो, आकाश में ध्यान करना चाहिये। फिर उस अमृत से एक दूसरे ही अमृत मय उज्ज्वल शरीर का निर्माण करना चाहिये। सो पहिले तो शरीर की रचना के लिये मारुती (वाय वीय) धारणा का और बाद में उसको निर्मल करने के लिये तैजसी तथा जलीय धारणा को क्रम से करे। तदनन्तर पन्च स्थानों में बनाये गये पांच पिंडाक्षरों से युक्त पन्च नमस्कार मंत्र से सकली-करण नाम की क्रिया अथवा समस्त क्रियाओं को करे। इसके बाद, जिनका स्वरूप पहिले लिखा जा चुका है ऐसे अरहंत स्वरूप से अपनी आत्मा को ध्यावे अथवा नष्ट कर दिये हैं अष्टकर्म जिसने ऐसे, अमूर्तीक ज्ञान से प्रकाशमान सिद्ध स्वरूप अपने को ध्यावे।

एक शंका

नन्वनर्हंतमात्मानमर्हंतं ध्यायतां सताम्।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिर्भवतां भवतीति चेत्।।१८८।।

``अपनी आत्मा जब अरहंत नहीं है तब उसे अरहंत रूप ध्यान करने वाले आप लोगों को भ्रांति हो रही है'' ऐसा क्यों न मान लिया जाय क्यों कि अतत् (जो जैसा है नहीं) को तत् (उसे वैसा मान लेना) मान लेनें का नाम ही तो भ्रांति है।

शंका का समाधान

तन्न चोद्यं यतोऽस्माभिर्भावार्हन्नयमर्पितः।
स चार्हद्ध्याननिष्ठात्मा ततस्तत्रैव तद्ग्रहः।।१८९।।

१ ``परणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्तिपरणत्तम्'' प्रबचनसार

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो[1] भवति।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात्स्वयं तस्मात्।।१९०।।
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा।।१९१।।

आपको ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि हमने अपने आपको भावरूप अर्हन् चिंतवन करने के लिये कहा है और अरहंत के ध्यान से विशिष्ट आत्मा ही भावार्हन है अतः भावार्हन को भावार्हन रूप से ध्यान करना भ्रांति नहीं है। आत्मा जिसरूप से परिणात होता है वह उस रूप से तन्मय हो जाता है अतः अरहंत के ध्यान से विशिष्ट आत्मा स्वयं ही भावार्हन हो जाता है। आत्म-ज्ञानी, उपाधि सहित स्फटिक मणि के समान, आत्मा को जिस भाव से जिस रूप ध्यान करता है उस रूप से वह तन्मयताको प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जिस प्रकार स्फटिक मणि के पीछे जिस रंग की चीज रख दी जाय वह उसी रंग का दिखने लग जाता है उसी प्रकार आत्मा भी जिस रूप से अपने को ध्याता है वह उस रूप से तन्मय हो जाता है।

दूसरी तरह से समाधान

अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा।।१९२।।
ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा।
भव्येष्वास्ते सतश्चास्य ध्याने को नाम विभ्रमः।।१९३।।

उपरिलिखित शंका का इस तरह भी समाधान किया जा सकता है कि किसी द्रव्य की अपनी २ होनेवाली (आगामी) व हो चुकी (भूत पर्यायें, द्रव् रूप होती हैं तथा वे सम्पूर्णद्रव्यों में हमेशा द्रव्य रूप से पाई भी जाती है अतः अर्हन्त पर्याय जो कि पर्याय दृष्टि से भावी है, परन्तु द्रव्य दृष्टि से, भव्य प्राणी में सदा ही पाई जाती है ऐसा होने से आत्मा को अरहंत रूप ध्याने में विभ्रम कैसा ? यह तो एक तरह से अरहंत का ही अरहंत रूप से ध्यान करना है।

उसी का अन्य और तरीके से समाधान

किं च भ्रांतं यदीदं स्यात्तदा नातः फलोदयः।
नहि मिथ्याजलाज्जातु विच्छित्तिर्जायते तृषः।।१९४।।
प्रादुर्भवंति चामुष्मात्फलानि ध्यानवर्तिनाम्।
धारणावशतः शांतक्रूररूपाण्यनेकधा।।१९५।।

समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि :-

यदि वह ध्यान भ्रांत मान लिया जाय तो, जैसे झूंटे कल्पित जल से प्यास नहीं बुझती, वैसे ही इससे फल प्राप्ति नहीं होना चाहिये, लेकिन ध्यान करने वाले व्यक्तियों को धारणा के वश से शांत व क्रर रूप अनेक प्रकार के फलों की प्राप्ति होती हुई देखी गई है। इसलिये आत्मा का अर्हंत रूप से ध्यान करना भ्रांति रूप नहीं है।

ध्यान का फल

गुरुपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः
अनंतशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति।।१९६।।

गुरु-उपदेश को प्राप्त कर सावधान चित्त हुये योगियों के द्वारा चिंतवन किया गया वह अनन्त शक्ति वाला आत्मा मुक्ति व भुक्ति को प्रदान करता है।

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये।
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तेय।।१९७।।

अरहन्त और सिद्ध के रूपमें ध्याया गया यह आत्मा, चरम शरीर धारणा करने वाले को मुक्ति देने में समर्थ होता है और जो चरमशरीरी नहीं है किन्तु उस ध्यान से जिसने पुण्य पैदा किया है, उसे भुक्ति (भोगों का) देने वाला होता है।

ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं तुष्टिः पुष्टिर्वपुर्धृतिः।
यत्प्रशस्तमिहान्यच्च तत्तद्ध्यातुः प्रजायते।।१९८।।

संसार में ज्ञान, लक्ष्मी, आयु, नीरोगता, पुष्टि, तुष्टि, सुन्दर शरीर, धैर्य तथा अन्य भी जो अच्छी चीजें हैं वे सब अर्हंत सिद्ध का ध्यान करने वाले को प्राप्त होती हैं।

तद्ध्यानाविष्ट मालोक्य प्रकंपन्ते महाग्रहाः।
नश्यंति भूतशाकिन्यः क्रूराः शाम्यन्ति च क्षणात्।।१९९।।

अरहन्त व सिद्ध के ध्यान में लवलीन हुए को देख कर महान (बडे २) ग्रह भी कँप जाते हैं। भूत, प्रेत, शाकिनी, डाँकिनी आदि विलीन हो जाते हैं तथा बडे २ क्रूर भी, क्षण भर में शांत हो जातै हैं।

यो यत्कर्मप्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्टमात्मनः।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्मवांछितम्।।२००।।

जो देवंता जिस काम के करने में समर्थ होता है, ध्यान करने वाला आत्मा उस (देवता) के ध्यान से आविष्ट होता हुआ स्वयं ही तदात्मक हो अपने मनोरथ को सिद्ध कर लेता है।

ध्यान की साप्रर्थ्य व उसका फल

पार्श्वनाथोभवन्मंत्री सकलीकृतविग्रहः[1]।
महामुद्रां महामंत्रं महामंडलमाश्रितः।।२०१।।
तैजसीप्रभृतीर्षिभ्रद् धारणाश्च यथोचितम्।
निग्रहादीनुदग्राणां ग्रहणां कुरुते द्रुतम्।।२०२।।
स्वयमाखंडलो भूत्वा महामंडलमध्यगः।
किरीटकुंडली वज्री पीतमू (भू) षाम्बरादिकः।।२०३।।
कुंभकीस्तंभमुद्राद्यास्तंभनं मंत्रमुषरन्।
स्तंभकार्याणि सर्वाणि करोत्येकाग्रमानवः।।२०४।।
स स्वयं गरुडीभूय क्ष्वेडं क्षपयति क्षणात्।
कंदर्पश्च स्वयं भूत्वा जगन्नयति वश्यताम्।।२०५।।
एवं वैश्वानरो भूय ज्वलज्ज्वालाशताकुलः।
शोतज्वरं हरत्याशु व्याप्य ज्वालाभिरातुरम्।।२०६।।
स्वयं सुधामयो भूत्वा वर्षन्नमृतमातुरे।
अथैतमात्मसात्कृत्य दाहज्वरमपास्यति।।२०७।।

---

१ सफलीकृतविग्रहः। ख प्रति में ऐसा भी पाठ पया जाना है।

क्षीरोदधिमयो भूत्वा प्लावयन्नखिलं जगत्।।
शांतिकं पौष्टिकं योगी विदधाति शरीरिणाम्।।२०८।।
किमत्र बहुनोक्लेन यद्यत् कर्म चिकीर्षाते।
तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम्।।२०९।।

सब प्रकार से सकलीकरण विधान द्वारा जिसने शरीर को सुरक्षित कर लिया है ऐसा मंत्रसिद्धिकरनेवाला व्यक्ति, भाव रूप से अपने आपको पार्श्वनाथ रूप बनाता हुवा व महामुद्रा, महामंत्र और महामंडल का आश्रय लेता हुआ यदि तैजसी आदि धारणाओं को यथोचित रूप से धारण करता है तो वह बडे २ ग्रहों के निग्रहादिक को शीघ्र ही कर डालता है। स्वयं मुकुट कुन्डल पहिने हुए, हाथ मं वज्र धारणा किये हुए व पीले २ आभूषणों और वस्त्रों को धारण कियेहुए इन्द्र रूप होकर यदि महामंडल के मध्य भाग में बिराजमान होता है व कुंभक, प्राणायाम, स्तम्भमुद्रादि के द्वारा स्तम्भनमंत्रों का उच्चारण एकाग्रमन से करता है तो सम्पूर्ण स्तम्भनादि कार्यो को कर डालता है। वह योगाभ्यासी योगी स्वयं गुरुण बन क्षणमात्रही में विष को नष्ट कर देता है तथा स्वयं ही कामदेव बन सारे संसार को वश में कर लेता है। इसी तरह वह, जिसमें सैकड़ों ही जाज्वल्यमान ज्वालाऐं निकल रहीं हैं ऐसे अग्नि रूप होकर शीघ्र ही अपनी ज्वालाओं से शीतज्वरपीड़ित व्यक्ति को व्याप्त कर उसके रोग को दूर कर देता है। स्यं अमृतमय बन, आतुर पुरुष पर अमृत की वर्षा करते हुए उसे अमृतमय कर लेता है और इस प्रकार उसके दाह ज्वर को दूर भगां देता है। इतना ही नही किन्तु योगी, क्षीरसागर मय होकर समस्त जगत को परिप्लावित (तृप्त) करते हुए प्राणियों के शांति एवं पुष्टि संबंधी कार्यों को कर डालता है। इस विषय में और ज्यादा कहने से क्या; ध्यान करने वाला जिस जिस कर्म को करना चाहता है उस २ कर्म का देवता स्वरूप स्वयं बन, उस २ कर्म (काम) को कर डालता है।

ध्यान का और भी फल

शांते कर्म्मणि शांतात्मा क्रूरे क्रूरो भवन्नयं।
शांतक्रूराणि कर्माणि साधयत्यत्येव साधकः।।२१०।।

शांत कर्म में शांत रूप होकर, व क्रूर कर्म में क्रूर रूप हो कर साधक पुरुष शांत और क्रूर कर्मों को सिद्ध कर लेता है।

ध्यान, फल सहित होने से भ्रांति रूप नहीं

आकर्षणं वशीकारः स्तम्भनं मोहनं द्रुतिः।
निर्विषीकरणां शांतिविद्वेषोच्चाटनिग्रहाः।।२११।।
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनाम्।
ततः समरसोभावसफलत्वान्न विभ्रमः।।२१२।।

ध्यान करने वालों के आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, द्रुति, निर्विषीकरण, शांति, विद्वेष, उच्चाटन, निग्रह आदिक बहुत से कार्य देखने में आते हैं, इसलिये समरसीभाव के सफल होने से ध्यान करना विभ्रम या कोरी कल्पना रूप नहीं है।

ध्यान की सहायक सामग्री

यत्पुनः पूरणं कुंभो रेचनं दहनं प्लवः।
सकलीकरणं मुद्रामंत्रमंडलधारणाः।।२१३।।
कर्म्माधिष्ठातृदेवानां संस्थानं लिंगमासनम्।
प्रमाणं वाहनं वीर्यं जातिर्नामद्युतिर्दिशा।।२१४।।
भुजवक्त्रनेत्रसंख्यां भावः क्रूरस्तथेतरः।
वर्णस्पर्शस्वरोऽवस्था वस्त्रं भूषणमायुधम्।।२१५।।
एवमादि यदन्यच्च शांतक्रूराय कर्मणे।
मंत्रवादादिषु प्रोक्तं तद्धयानस्य परिच्छदः।।२१६।।

तथा और भी जो पूरण, कुंभक, रेचन, दहन, प्लव, सकलीकरण, मुद्रा, मंत्र, मंडल, धारणा, और कर्मो के अधिष्ठाता देवों के आकार, लिंग, आसन, प्रमाण, वाहन वीर्य, जाति, नाम, धुति, दिशा, भुजा-मुख व नेत्रों की संख्या क्रूर तथा शांत भाव, वर्ण, स्पर्श, स्वर, अवस्था, वस्त्र भूषण, आयुध, तथा इनको आदि लेकर और भी शांत एवं क्रूर कर्मो के लिये जो मंत्रवाद (मंत्रशास्त्र) आदि में जो कुछ कहे गये है वे सब ध्यान के सहायक हैं।

यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम्।।२१७।।

जो कुछ ऐहिलौकिक फल हैं व पारलौकिक फल हैं उन दोनों का प्रधान कारण

ध्यान ही है।

ध्यान के मुख्य चार कारण

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।
गुरुपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः।।२१८।।

ध्यान के निम्न लिखित चार मुख्य कारण है :-

गुरु-उपदेश, श्रद्धान, सतत अभ्यास और स्थिरमन।

अत्रैव माग्रहं कार्षुर्यद्धय्‌ानफलमैहिकम्।
इदं हि ध्यानमाहात्म्यख्यापनाय प्रदर्शितम्।।२१९।।

ध्यान से इह लोक संबंधी फल की ही प्राप्ति होती है ऐसा आग्रह मत कर बैठना, यह तो केवल ध्यान के माहात्म्य दिखलाने के लिये कहा गया है।

धर्म्य एवं शुक्ल ध्यान करने की प्रेरणा

यद्धय्‌ानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनाम्।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम्।।२२०।।

चूंकि इस लोक सम्बन्धी फल के चाहने वालों का ध्यान रौद्र एवं आर्त्त रूप होता है इसलिये इन दोंनों ध्यानों को छोड कर धर्म्य एवं शुक्ल ध्यान की उपासना करनी चाहिये।

शुक्ल ध्यान का स्वरूप

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु।
शुभाशुभमलापायाद्विशुद्ध शुक्लमभ्यधुः।।२२१।।

अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में शुभ और अशुभ कर्म रूपी मैल के दूर होने से विशुद्ध, रागद्वेष रहित, तत्व ज्ञान रूप शुक्ल ध्यान होता है।

शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा।
माणिक्यशिखावदिदं सुनिर्मलं निःप्रकंपं च।।२२२।।

यह ध्यान शुचि (पवित्र) गुणों के संबंध से, कषाय रूपी धूलि के क्षय से अथवा उपशम से होने के कारण शुक्ल कहलाता है तथा माणिक्यरत्न की शिखा की तरह अतिशय निर्मल एवं कंपन रहित (निश्चल) होता है।

ध्यानभ्यास के लिये प्रेरणा

रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा वंधनिबंधनम्।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्मुमुक्षसे।।२२३।।

हे योगी ! यदि तुम्हें मुक्त होने की इच्छा है तो बंध के कारणों को हटा व रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक् चारित्र) को अंगीकार करते हुए ध्यान का अभ्यास करो।

ध्यान की महिमा (फल)

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण तुद्यन्मोहस्य योगिनः।
चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदा अन्यस्य च क्रमात्।।२२४।।
तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणाम्।।२२५।।
आस्त्रवंति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रति क्षणाम्।
यैमहर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु।।२२६।।
तत्र सर्वेन्द्रियामोदि मनसः प्रीणनं परम्।
सुखामृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुरसेवितः।।२२७।।
ततोऽवतीर्य मर्त्येपि चक्रवर्त्यादिसंपदः।
चिरं भुक्त्वा स्वंय मुक्त्वा दीक्षां दैगंबरीं श्रितः।।२२८।।
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधम्।
विधूयाष्टापि कर्म्माणि श्रयते मोक्षमक्षयम्।।२२९।।

ध्यानभ्यास की उत्तरोत्तर वृद्धि होने से नष्ट होरहा है मोह जिसका ऐसा योगी यदि चरम शरीरी हुआ तब तो उसे उसी भव में मुक्ति[१] हो जाती है और यदि चरम शरीरी न हुआ तो धीरे २ अन्य भवों में मुक्ति हो जाती है।

जो चरम शरीरी नहीं है किन्तु ध्यान का सदा अभ्यास करने वाला है ऐसे योगी को सम्पूर्ण अशुभ कर्मो की निर्जरा व संवर होता रहता है साथ ही, प्रतिक्षण ऐसे बहुत

१ सर्व कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः

से पुण्य कर्मो का आश्रव होता है जिनके कि उदय से वह कल्पवासी देवों में महान ऋद्धिधारी देव होता है।

वहां (स्वर्गों में), समस्त इन्द्रियों को आनन्द देने वाले तथा मन को परम तृप्ति एवं संतोष प्रदान करने वाले सुख रूपी अमृत को पीता हुआ, चिरकाल पर्यंत देवों से सेवित होता हुआ, रहता है।

तदनन्तर मर्त्यलोक में जन्म लेकर-वहां भी चक्रवर्ती आदि की सम्पत्ति को चिरकाल पर्यन्त भोग कर तथा स्वयं ही उनको त्याग कर-दिगम्बरी दीक्षा धारण कर लेता है।

वज्रमयी शरीर वाला (वज्रवृष नाराच संहनन वाला) वही पुरुष चार प्रकार के शुक्ल ध्यान का चिंतवन कर व उससे अष्ट कर्मों को नष्ट कर कभी नाश न होने वाले मोक्ष स्थान को प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष का स्वरूप च फल

आत्यंतिकः स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणोः।
स मोक्षः फलमेतस्यज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः।।२३०।।

अपने ही कारणों से जो जीव व कर्म की बिल्कुल जुदायगी होजाना, सो मोक्ष है। इस मोक्ष हो जाने का फल क्षायिक-दर्शनादिक गुणों की प्राप्ति होना है।

कर्मबंधनविध्वंसादूर्ध्वब्रज्यास्वभावतः।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति।।२३१।।

कर्म वंधन के विध्वंस होजाने से इसके उर्ध्व-गमन-स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है, उससे मुक्तात्मा एक ही क्षण में लोक शिखर के अग्रभांग में पहुंच जाता है।

पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्भितौ
मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्धेतुर्कमणाम्।।२३२।।
ततः सोऽनंतरत्यक्तस्वशरीरप्रमाणतः।
किंचिदूनस्तदाकारस्तत्रास्ते स्वगुणात्मकः।।२३३।।

संसार दशा मं आत्मा के प्रदेशों का संकोच व विस्तार, कर्म के निमित्त से होता था किन्तु मुक्त होजाने पर, संकोच व विस्तार के कारणीभूत कर्मो का नाश होजाने से वे नहीं होते हैं। इस लिये ठीक पहिले छोड़े हुए अपने शरीर के प्रमाण से किंचित् ऊन

(कम) उसी शरीर के आकार व अपने ज्ञानादि गुणों के लिए हुंए वे वहां (मुक्ति स्थल में) विराजमान रहते है।।

मोक्षस्थान में मुक्तात्मा का स्वरूप

स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्।।२३४।।

नष्ट होगये हैं कर्म जिसके ऐसे पुरुष की मुक्ति होने पर उसकी स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। वहां (मुक्ति में) आत्मा का अभाव नहीं होजाता, न अचेतनता ही हो जाती है और न निर्विषय चैतन्य ही होता है।

स्वरूप सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनम्।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनम्।।२३५।।

सम्पूर्ण जीवों का स्वरूप, सूर्य मणडल की तरह स्व और पर को प्रकाशन करने (जानने) का है। उनका प्रकाशन दूसरों से नहीं होता है।

तिष्ठत्येव स्वरूपणे क्षीणे कर्मणि पौरुषः
यथा मणिः स्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले।।२३६।।

अपने कारणों के संसर्ग से पैदा होने वाले मल के नष्ट हो जाने पर जैसे मणि स्व स्वरूप में ठहर जाता है वैसे ही कर्मों के नष्ट होजाने पर आत्मा, स्व-स्वरूप में ठहर जाता है, या ठहरा रहता है।

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षणम्।।२३७।।

वह (मुक्तात्मा) न मोह करता है, न संशय करताहै, न अनध्यवसाय करता है, न राग करता है और न द्वेष ही करता है किन्तु वह तो प्रतिक्षण अपने स्वरूप में ही रत (लवलीन) रहता है।

त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितम्।
जानन् पश्यंश्च निःरोष मुदास्ते स तदा प्रभुः।।२३८।।

उस समय वह प्रभु त्रिकाल विषयक ज्ञेयों को, जिस रूप में पाये जाते हैं उस रूप से, पूर्ण तथा जानते देखते हुए सदा वीतरण बना रहता है।

अनंतज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययम्।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातींद्रियमच्युतः।।२३९।।

मुक्ति में, वहां से च्युत न होते हुए अनंत ज्ञान, दर्शन, वीर्य व वैतृष्ण्य मय, अविनाशी, अतीन्द्रिय सुख का अनुभवन करता रहता है।

सिद्ध सुख विषयक एक शंका

ननु चाक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तुः सुखं भवेत्।
अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृगं सुखम्।।२४०।।

इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रिय विषयों को अनुभवन करने वाले प्राणी को सुख हुआ करता है। पुंछना यह है कि जब मुक्त जीव इन्द्रयों से रहित हो जाते हैं तब फिर मोक्ष में सुख कैसा ? अर्थात् इंन्द्रियों के बिना सुख नहीं हो सकता है।

शंका का उत्तर

इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मंत यतः।
नाद्यापि वत्स त्वं वेत्सि स्वरूपं सुखदुःखयोः।।२४१।।
आत्मायत्तं निराबाधमर्तीद्रियमनश्वरम्।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः।।२४२।।
यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम्।
स्वपरद्रव्यसंभूतं तृष्णासंतापकारणम्।।२४३।।
मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबंधनम्।
दुःखकारणबंधस्य हेतुत्वाद्दुःखभेव तत्।।२४४।।
तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत् सुखम्।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृंभितम्।।२४५।।

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसाम्।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम्।।२४६।।
अतएवोत्तमो मोक्षः पुरुषार्थेषु पठ्यते।
स च स्याद्वादिनामेव नान्येषामात्मविद्विषाम्।।२४७।।

यदि तुम मोह या अज्ञान से वैसा मानते हो तो वैसा मानना उचित (श्रेय) नहीं है। ऐ बालक ! आश्चर्य है कि तुम आज तक भी सुख और दुःख के स्वरूप को न जान सके।

अरे, जो सुख आत्मा के आधीत है, बाधा रहित है, अतींद्रिय (इंद्रियों से परे) है, अविनाशी है व चार घातिया कर्मो (ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी मोहनीय व अंतराय) के क्षय से उत्पन्न होनेवाला है उसे मोक्ष सुख समझो।

तथा जो संसार सम्बन्धी सुख है, वह रागात्मक है, हमेशा न रहने वाला है, स्व. और पर द्रव्य से पेदा होने वाला है, तृष्णा तथा संताप का कारण है; मोह, द्रोह, मद, क्रोध, माया, लोभ, आदि से पैदा होने वाला है, तथा दुःख के कारणीभूत-बंध का कारण होने से वह दुःख रूप ही है।

श्लेष्मा (कफ) के प्रभाव से पटोल-कडुआकरेला-जैसे सुस्वादु (मीठा) मालूम होता है वैसे ही यह मोह का ही माहात्म्य समझो जो विषयों से भी सुख होना माना जाता है।

मध्य लोक में चक्रवर्तियों को जो सुख होता हैं और जो सुख स्वर्गो में देवों के होता है वह सब, परमात्मा (मक्तआत्मा) के सुख की एक कला के (अंश) बराबर भी नहीं होता हैं। यही कारण है कि चार पुरुषार्यों में मोक्ष को उत्तम पुरुषार्थ कहा गया है।

वह मोक्ष, स्याद्वाद सिद्धान्त स्वीकार करने वालों के ही हो सकता है। आत्मा से विद्वेष रखने वाले (आत्म तत्व को न मानने वाले) अन्य वादियों के मत में नहीं हो सकता।

एकान्तवादियों के यहां मोक्ष की अनुपपत्ति क्यों ? इसका उत्तर

यद्वा बंधश्च मोक्षश्च तद्वेतू च चतुष्टयम्।
ना त्येवैकांतरक्तानां तद्व्यापकमनिच्छताम्।।२४८।।
अनेकांतात्मकत्वेन व्याप्तावत्र क्रमाकमौ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता तयास्तित्वं चतुष्टये।।२४९।।

मूलव्याप्तुर्निवृत्तौ तु क्रमाक्रमनिवृत्तितः।
क्रियाकारकयोर्भ्रंशान्न स्यादेतच्चतुष्टयम्।।२५०।।
ततो व्याप्त्या(प्तः) समस्तस्य प्रसिद्धञ्ज प्रमाणंतः।
चतुष्टयसदिच्छद्भिरनेकांतोऽवगम्यताम्।।२५१।।

अथवा, बंध, मोक्ष और उनके कारण-ये चारों ही तत्व एकान्तवादियों (अनेक धर्मात्मक वस्तु को किसी एक धर्म रूप ही स्वीकार करने वालों) के यहां नहीं बन सकते है कारण कि वे इन चारों के व्यापकरूप अनेकान्तात्मकत्व को हो नहीं मानते हैं।

बात यह है कि अनेकान्तात्मकत्व के साथ क्रम और अक्रम (यौगपद्य) व्याप्त हैं, क्रम अक्रमसे अर्थक्रिया व्याप्त है और अर्थक्रिया से अस्तित्व व्याप्त है। अर्थात् अस्तित्व (सत्ता) वहीं रह सकता है जहां अर्थ क्रिया हो, अर्थक्रिया वहीं बन सकती है जहां क्रम और अक्रम (यौगपद्य) हों और क्रम अक्रम वहीं बन सकते हैं जहां अनेकान्तात्मकत्व हो।

लेकिन सर्वथा एकान्तवादियों के यहां जब मूल, व्यापकरूप अनेकान्तात्मकत्व ही नहीं माना गया तब क्रम और अक्रम की भी निवृत्ति हो जायगी। क्रम और अक्रम की निवृत्ति हो जाने से क्रिया व कारक भी नहीं बन सकेंगे और उनके न बनने से इन (बंध, बंध के कारण, मोक्ष, मोक्ष के कारण) चारों की भी व्यवस्था नहीं बन सकती है।

इसलिये उपरिलिखित चतुष्टय के अस्तित्व को चाहने वालों को, सब में व्यापक[१] रूप से पाया जाने वाला, प्रमाण प्रसिद्ध अनेकान्त अवश्य ही मानना चाहिये।

ध्यान के वर्णन का कारण

सारचतुष्टयेप्यस्मिन्मोक्षः सद्यानपूर्वकः।
इंति मत्वा मया किंचिद् ध्यानमेव प्रपंचितम्।।२५२।।

उपरि लिखित चार तत्वों में मोक्ष सारभूत (प्रधान) है तथा वह मोक्ष प्रशस्त (समीचीन) ध्यान पूर्वक होता है ऐसा समझ कर मैंने कुछ ध्यान का वर्णन किया है।

स्व-लघुता एवं अंतिम निवेदन

यद्यप्यत्यंतगंभीरमभूमिमार्दृशामिदम्।
प्रावर्त्तिषि तथाप्यत्र ध्यानभक्तिप्रचोदितः।।२५३।।

---

१ ततो व्याप्त्या समस्तस्य ऐसा भी पाठ ख प्रति में पाया जाता है।

यदत्र स्खलितं किंचिज्छाद्मस्थ्यादर्थशब्दयोः।
तन्मे भक्तिप्रधानम्य क्षमतां श्रुतदेवता।।२५४।।

यद्यपि यह ध्यान अत्यन्त गम्भीर हैं मुझ जैसे लोगों की उसमें पहुँच नहीं है फिर भी ध्यान की भक्ति से प्रेरित होकर मैंने इसमें प्रवृत्ति की है।

इस विषय में अल्प ज्ञान होने से जो अर्थ सम्बन्धी व शब्द सम्बन्धी चूक होगई होवे तो, भक्तिप्रधान मुझे, श्रुतदेवता क्षमा करें।

अन्तिम भावना

वस्तुयाथात्म्यविज्ञानश्रद्धानध्यानसंपदः।
भवंतु भव्यसत्त्वानां स्वस्वरूपोपलब्धये।।२५५।।

भव्य प्राणियों को अपने (आत्म) स्वरूप की प्राप्ति के लिये, वस्तुओं का यथार्थज्ञान, यथार्थश्रद्धान व ध्यान रूपी संपत्तियां प्राप्त होवें।

अंतिम प्रशस्ति।

श्रीवीरचंद्रशुभदेवमहेंद्रदेवाः
शास्त्राय यस्य गुरुवो विजयामरश्च।
दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्रीनागसेनमुनिरुद्यचरित्रकीर्तिः।।१।।

श्री वीरचन्द्र, शुभदेव, व महेन्द्रदेव जिसके शास्त्र (विद्या या ज्ञान) गुरु, पुण्यमूर्ति विजयदेव जिसके दीक्षा गुरु थे तथा जिसके चरित्र की कीर्ति सर्वत्र उद्योतित (प्रकाशित) होरही थी ऐसे श्री नागसेन नामक मुनि हुए।

तेन प्रवृद्धधिषणेन गुरूपदेश-
मासाद्य सिद्धिसुखसंपदुपायभूतम्।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय
श्रीनागसेनविदुषा व्यरचि स्फुटार्थम्।।२।।

गुरुओं के उपदेश को प्राप्त कर, बढ़ी चढ़ी बुद्धि वाले उन नागसेन नामक विद्वान् (मुनि)ने, सिद्धि, सुख, व संपदा की प्राप्ति के लिये कारणीभूत, इस स्पष्ट अर्थवाले तत्वानुशासन नामक ग्रंथ को संसार के प्राणियों का हित करने के लिये बनाया।

जिनेंद्राः सद्ध्यानज्वलनहुतघातिप्रकृतयः
प्रसिद्धाः सिद्धाश्च प्रहततमसः सिद्धिनिलयाः।
सदाचार्या वर्याः सकलसदुपाध्यायमुनयः
पुनंतु स्वांतं नस्त्रिजगदधिकाः पंच गुरुवः।।३।।

जिन्होंने समीचीन ध्यान रूपी अग्नि में चार घातिया कर्म प्रकृतियों को होम दिया है ऐसे श्री जिनेन्द्र अरहंत देव, नष्ट कर दिया है अज्ञानांधकार जिन्होंने तथा सिद्धशिला नें विराजमान जो प्रसिद्ध सिद्ध परमेष्टी, श्रेष्ट आचार्यवृन्द, समस्त प्रशस्त उपाध्यायगण व साधुसमुदायरूप जो त्रिलोकतिशायी पंचपरमेष्ठी हैं, वे हम लोगों के अन्तकरण को पवित्र करें।

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगत् दुग्धांबुराशाविव
ज्ञानज्योतिषिं च स्फुरेत्यतितरामोंभूर्भुवः स्वस्त्रयी।
शब्दज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासंत्यमी
स श्रीमानमरार्च्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायास्तु नः।।४।।

क्षीरोदधि के समान जिनकी शरीर-कांति में सारा संसार डूबा हुआ है, जिनकी ज्ञान-जयोति में भू, भुवः, और स्वः की त्रयी (तिकडी) अत्यंत स्पष्ट रीति से प्रकाशमान होरही है, दर्पण के समान जिनकी शब्द-ज्योति (दिव्यध्वनि) में सम्पूर्ण चराचर पदार्थ झलक रहे हैं, जो अंतरंग (अनन्तचतुष्टयादि) एवं बहिरंग (समवशरणादि) लक्ष्मी कर युक्त हैं तथा जो देवो द्वारा बंदनीय है ऐसे जिनेंद्र भगवान हम लोगों को ज्योतित्रय-देहज्योति ज्ञानज्योति व शब्दज्योति-के प्रदान करने वाले होवे।

इति श्रीमन्नागसेनमुनिविरचित तत्त्वानुशासनसिद्धातः

समाप्तः

इस प्रकार श्री नागसेन मुनि द्वारा बनाया गया
`तत्वानुशासन' नामक ग्रंथ समाप्त हुआ।

तत्वानुशासन
की
श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	अ	
अकारादिहकारान्ताः	१०७	२३
अचेतनं भवेन्नाहम्.....................................	१५०	३१
अतएवोत्तमोमोक्षः	२४७	४८
अतएवान्य शून्योऽपि	१७३	३५
अत्रेदानी निषेधन्ति....................................	८३	१८
अत्रैज्माग्रहंकार्षुः	२१९	४४
अथवांगति जानाति....................................	६२	१४
अथवा भाविनो भूताः	१५२	३१
अर्थव्यंजनपर्यायाः..	११६	२५
अनादिनिंधने द्रव्ये.....................................	११२	२४
अनंतदर्शनज्ञान	१२०	२६
अनंतज्ञानदग्वीर्य	२३९	४८
अनेकान्तात्मकत्वेन.....................................	२४९	४९
अन्यच्छरीरमन्योऽहम्..................................	१४९	३१
अन्यत्रवा क्वचिद्देशे...................................	९१	२०
अन्यथावस्थितेष्वर्थे.....................................	९	२
अस्ति वास्तवसर्वज्ञः	२	१
अन्यात्माभावो नैरात्म्यम्...............................	१७६	३५
अप्रमत्तः प्रमत्तश्च	४६	११
अभावो वा निरोधःस्यात्	६४	१५

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
अभिन्नकर्तृकर्मादि	२९	७
अभिन्नमाद्यमन्यत्तु	३७	२१
अभ्येत्यसम्यगाचार्यम्	८२	१०
	आ	
आकर्षणं वशीकारः	२११	४३
आकारं मरुतापूर्य	१८३	३७
आज्ञापायौ विपाकं च	३८	२२
आत्मनः परिणामो यो	५२	१३
आत्मानमन्यसंपृक्तम्	१७७	३६
आत्मायत्तं निराबाधम्	२४२	४८
आत्यन्तिकः स्वहेतोः	२३०	४६
आदौमध्येऽवसाने यत्................................	१०१	२२
आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानम्.............................	३४	८
आस्त्रंवति च पुण्यानि	२२६	४५
	इ	
इति चेन्मन्यसे मोहात्...............................	२८१	४८
इति संक्षेपतो ग्राहयम्	८०	१०
इत्यादीन्मंत्रिणो मंत्रात्	१०८	२४
इदं दुःशकं ध्यातुम्	१८१	३७
इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिः	७२	१६
इंद्रियाणां प्रवृत्तौ च	७६	१७
	उ	
उभयस्मिन्निरुद्धे तु....................................	१६७	३४
	ए	
एकाग्राचिन्तारोधो यः................................	५६	१३

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
एंक प्रधानमित्याहुः	५७	१३
एकाग्राग्रहणं चात्र	५३	१४
एकं च कर्ता करण	७३	१७
एतद्वयोरपिध्येयम्	१८०	३७
एवं नामादिभेदेन	१५०	२८
एवमादि यदन्यच्च	२१६	४३
एवमादीनि कार्याणि	२१२	४३
एवं सम्यग्विनिश्चित्य	१५९	३२
एंवविधमिदं वस्तु	१५	२५
एवं वैश्वानरो भूय	२०६	४१
	क	
कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यः	१६४	३४
कर्मबंधनविध्वंसादू	२३१	४६
कर्माधिष्ठातृदेवानाम्	२१४	४३
किमत्रबहुनोक्तेन	१३८	२९
किमत्रबहुनोक्तेन	२०९	४२
किं च भांतं यदीदं स्यात्	१९४	४०
कुंभकीस्तम्भमुद्राद्याः	२०८	४१
	ग	
गुप्तोन्द्रियमना ध्याता	३८	९
गणभृद्वलयोपेतं	१०६	२३
गुरूपदेशमासाद्य	१९६	४०
	च	
चतुस्त्रिशन्महाश्चर्यैः	१२५	२७
चीरतारो न चेंत्सन्ति	८६	१९

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
चिंताभावो न जैनानाम्	१६०	३३
चेतनोऽचेतनो वार्थो	१११	२४
चैतसा वचसा तन्वा	२७	६
	ज	
जन्माभिषेकप्रमुख	१२६	२७
जिनेन्द्रप्रतिबिम्बानि	१०९	२४
जिनेन्द्रसद्धयानज्वलनहुतः	१०३	५२
जीवादयो नवाप्यर्थाः	२५	६
जीवादिद्रव्ययाथात्म्य	१५२	३१
	त	
ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै	१७४	३५
ततःपंचनमस्कारैः	१८६	३८
तनस्त्वं बंधहेतूनाम्	२२	५
ततः सोऽनंतरत्यक्त	२३३	४७
ततोवतीर्य मर्त्येऽपि	२२८	४५
ततोऽयमर्हत्पर्यायो	१९३	३९
ततो व्याप्तः समस्तस्य	२५१	५०
तत्वज्ञानमुदासीनम्	२२१	४४
तत्र सर्वेन्द्रियामोदि	२२७	४५
तदा तथाविधध्यान	१३६	२७
तत्र बंधः स हेतुभ्यो	६	२
तत्रासन्नीभवेन्मुक्तिः	४१	१०
तत्रान्मग्यसहाये यत्	६५	१५
तत्रापि तत्वतः पंच	११९	२६
तत्रादौ पिंडसिद्धयर्थम्	१८५	३७

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
तथाद्यमाप्तमाप्तानाम्	१२३	२७
तथाह्यचरमांगस्य	२२५	४५
तथा हि चेतनोऽसंख्य	१४७	३१
तदर्थानिन्द्रियैर्गृहलन्..................................	१९	५
तदा च परमैकाग्र्याद्	१७२	३४
तदा तथाविधध्यान....................................	१२६	२९
तदास्य योगिनो योगः	६१	१४
तन्नचोद्यं यतोऽस्माभिः	१८९	३८
तदेवानुभवश्चापम्	१७०	३४
तद्ध्यानाविष्टमालोक्य	१७०	४०
तन्मोहस्यैव माहात्म्यम्	२४५	४८
ततोऽनपेतं यज्ज्ञानम्..................................	५८	१३
तस्मादेतस्य मोहस्य...................................	२०	५
तस्मान्मोहप्रहाणाय	१४६	३१
तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च	१८२	३७
तादृक्सामग्र्यभावे तु	३०६	९
तापत्रयोपतप्तेभ्यो	२	१
ताभ्यां पुनः कषायाः..................................	१७	४
तिष्ठत्येव स्वरूपेण	२३६	४७
तेजसामुत्तमं तेजो	१२८	२७
तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते...............................	१८	४
तैजसप्रिभृतीर्बिभ्रत्.......................................	प्र. २	४१
	द	
दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा	१४३	३०
दूरमुत्सृज्य भूमागम्	१२४	२७

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
दृग्बोधसाम्यरूपत्वात्	१६३	३४
देशः कालश्च सोऽन्वेष्य	३९	१०
देहज्योतिषि यस्य मज्जति	प्र. ४	५३
द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री	४८	१२
द्रव्यध्येयं बहिर्वस्तु	१३२	२८
द्रव्यपर्याययोर्मध्ये	५८	१४
द्रव्यार्थिकनयादेकः	६३	१५
	ध	
धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वम्	३०	७
ध्याता ध्यानफलं ध्येयं	३७	९
ध्यातारि ध्यायते ध्येयं	७१	१६
ध्यातारश्चेन्नसन्त्यद्य	८५	१९
ध्यातोऽर्हस्तिद्धरूपेण	१९७	४०
ध्यानस्य च पुर्नमुख्ये	२१८	४४
ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण	२२४	४५
ध्याने हि बिभ्रते थैर्यं	१३३	२८
ध्यायते येन तद्धयानं	६७	१५
ध्यायेदइउएओ च	१०३	२३
ध्येयार्था लम्बनं ध्यानं	७०	१६
	न	
नन्वर्हन्तमात्मानम्	१८८	३८
ननुचाक्षैस्तदर्थानाम्	२४०	४८
न मुह्यन्ति न शंसेते	२३७	४७
नहींद्रियधिया दृश्यम्	१६६	३४
नान्योस्मि नाहमस्त्यन्यो	१४८	३१

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
नाम च स्थापनं द्रव्यम्.............................	९९	२२
नासाग्रन्यस्तनिष्पन्द	९३	२०
निरस्तानिद्रो निर्भाति..................................	३५	२१
निश्चयनयेनभणिस्त्रि....................................	३१	७
निश्चयाद् व्यवहाराच्च	९३	२१
	प	
पश्चादात्मानमर्हन्तम्....................................	१८७	३८
परस्परपरावृत्ताः...	१७५	३६
परिणमते येनात्मा	१९०	३९
पश्यन्नात्मानमैकाग्रयात्	१७८	३६
पार्श्वनाथोभवन्मंत्री.......................................	२०१	४१
पुरुषः पुद्गलः कालो	११७	२५
पुंसः संहारविस्तारौ....................................	२३२	४६
पूर्वश्रुतेन संस्कारम्	१८८	३०
प्रत्याहृत्य यदा चिन्ताम्.............................	६०	१४
प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकान्	९४	२०
प्रभास्वल्लक्षणाकीर्ण	१२७	२७
प्रमाणनयनिक्षेपैयाः.......................................	२६	६
प्रादुर्भवन्ति चामुष्यात्..................................	१९५	४०
	ब	
ब्रुवता ध्यानशब्दार्थ	१८२	३०
बंधहेतुषु मुख्येषु...	२१	५
बंधदेतुषु सर्वेषु	१२	३
बंधहेतुविनाशस्तु	२३	५
बन्धस्य कार्यः संसारः	७	२

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
बंधो निबंधनं चास्य...................................	४	२
	भ	
भुजबस्त्रनेत्रसंख्याम्	५१५	४३
भूतले वा शिलापट्टे...................................	९२	२०
	म	
मत्तः कामादयोभिन्नाः	१५८	३२
ममाहंकारनामानौ	१३	३
महासत्त्वः परित्यक्तः...................................	४५	१०
माथ्यस्थ्यं समतोपेक्षा	१३९	२९
मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहात्	१६	४
मुक्तलोकद्वयापेक्षः...................................	४४	१०
मुख्योपयार भेदेन	४७	११
मूलव्याप्तुर्निवृत्तौ तु	२५०	५०
मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा	२८	७
मोक्षस्तत्कारणं चैतद्	५	२
मोहद्रोहमदक्रोध	२४४	४८
	य	
यत्तुसांसारिकं सौख्यम्	२४३	४८
यत्पुनः पूरणं कुंभो	२१३	४३
यत्पुनर्वज्रकायस्य...................................	८४	१९
यथाभ्यासेन शास्त्राणि...................................	८८	२०
यथा निर्वातदेशस्थः	१७१	३४
यथा यथा समाध्याता...................................	१७९	३७
यथैकमेक्रदाद्रव्यं	११०	२४
यथोक्तलक्षणो ध्याता...................................	८९	२०

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
यदचेतत्तथा पूर्वं	१५६	३२
यदत्र स्खलितं किंचित्	२५४	५१
यदत्र चक्रिणां सौख्यं	२४६	४९
यदात्रिकं फलं किंचित्	२१७	४३
यन्न चेतयते किंचित्..................................	१५५	३२
यदा ध्यानबलाद्धयाता................................	१३५	२९
यद्धयानं रौद्रमार्तं वा	२२०	४४
यद्यप्यत्यन्तगम्भीरं......................................	२५३	५०
यद्धा बंधश्च मोक्षश्च	२४८	४९
यद्विवृत्तं यथापूर्वं	११३	२५
यन्मिथ्याभिनिवेशेन	१६५	३२
यस्तु नालम्बते श्रौतीम्	१४५	३१
यस्तूत्तमक्षमादिः स्याद्	५५	१३
ये कर्मकृता भावाः	१५	४
येन भावेन यद्रूपं.......................................	१९१	३९
येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं	८२	१८
येनोपायेनशक्येत	७८	१८
यो यत्कर्मप्रभुर्देवः	२००	४१
यो मध्यस्थः पश्यति	३२	८
योऽत्र स्वस्वामिसंबंधो.................................	१५१	३१
	र	
रत्नत्रयमुपादाय	२२३	४५
	ल	
लोकाग्रशिखरारूढ	१२२	२६
	व	
वज्रकायः स हि ध्यात्वा	२२९	४५

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
वज्रसंहननोपेताः	३५	८
वपुषोऽप्रतिभासेऽपि.....................................	१६८	३४
वस्तुयाथात्म्यविज्ञान	२५५	५१
वाचस्य वाचकं नाम	१००	२२
वीतरागोऽप्ययं देवो	१२९	२८
वृत्तिमोहोदयाज्जन्तोः	११	३
वेद्यत्वं वेदकत्वं च....................................	१६१	३३
व्यवहारनयादेवं	१९१	३०
	श	
शश्वदनात्मीयेषु..	१४	४
शान्ते कर्मणि शांतात्मा	२१०	४२
शुचिगुणयोगाच्छुक्लं	२२२	४४
शून्यागारे गुहाथां वा	९०	२०
शून्योभवदिदं विश्वं	५३	१३
श्रीवीरचन्द्रशुभदेवमहेन्द्रदेवाः........................	**प्र. १**	५२
श्रुतज्ञानेन मनसा यतो	६८	१६
श्रुतज्ञानमुदासीनं	६६	१५
श्रुतेन विकलेनापि	५०	१२
	स	
स च मुक्तिहेतरिद्धो	३३	८
संचिंतयन्ननुप्रेक्षाः	७९	१८
सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं	११८	२६
सद्द्रव्यमस्मिचिदहं.....................................	१५३	३२
सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि	५१	१२
सन्नेवाहं सदाप्यस्मि	१५८	३२

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
सप्ताक्षरं महामंत्रम्....................................	१०४	२३
समाधिस्थेन यद्यात्मा.................................	१६९	३४
सम्यग्गुरूपदेशेन्...	८७	२०
सम्यग्ज्ञानादिसम्पन्नाः..................................	१३०	२८
सम्यग्निर्णीतजीवादि	८३	१०
स स्वयं गरुडीभूय..................................	२०५	४१
सहवृत्ता गुणास्तत्र	११४	२५
सामग्रीतः प्रकृष्टायाः..................................	८९	१२
सारचतुष्टयेप्यस्मिन्	२५२	५०
सिद्धस्वार्तीनशेषार्थ	१	१
सोऽयं समरसीभाव	१३७	२९
संक्षेपेण यदत्रोक्त......................................	१८०	३०
संगत्यागः कषायाणाम्...............................	७५	१७
साकारं च निराकारम्.............................	१२१	२६
स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञान....................................	२८	६
स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात्	१६२	३३
स्वयमाखंडलो भूत्वा	२०३	४१
स्वयमिष्टं न च द्विष्टं	१५७	३२
स्वयं सुधामयो भूत्वा.................................	२०७	४१
स्वरूपाविस्थितिः पुंसः	२३४	४७
स्वरूपं सर्वजीवानाम्	२३५	४७
स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन	७४	१७
स्वाध्यायाद्धयानमध्यास्ताम्	८१	१८
स्वाध्यायःपरमस्तावत्	८०	१८
स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञान......................................	८	२

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	ह	
हंमत्रो नभसि ध्येयः	१८४	३७
हृत्पंकजे चतु:पत्रे	१०२	२२
हृदयेष्टदलं पद्मम्	१०५	२३
	क्ष	
क्षीरोदधिमयो भूत्वा	२०८	४२
	त्र	
त्रिकालविषयं ज्ञेयं	२३८	४७
	ज्ञ	
ज्ञानवैराग्यरज्जूभ्याम्	७७	१७
ज्ञानादर्थान्तरादात्मा	६९	१६
ज्ञानावृत्युदयादर्थे	१०	३
ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यम्	१९८	४०

।।नमः श्री जिनचन्द्राय।।

श्रीचंद्रकविविरचिता

वैराग्यमणिमाला।

(भाषानुवाद सहित)

—◆○◆○◆○◆—

मंगलाचरण

चिंतय परमात्मान देवम्
योगिसमूहैः कृतपदसेवम्
संसारार्णववरजलयानम्
केवलबोधसुधारसपानम्।।१।।

अनेक योगिसमूहों के द्वारा जिनके चरण कमलों की सेवा की गई है, जो संसार रूपी महासागर से तरने के लिये जहाज के समान हैं तथा जिन्होंने केवलज्ञान रूपी अमृत का पान किया है, ऐसे जो परमात्मा सिद्ध भगवान हैं, उनका, हे आत्मन्, तू चिंतवन कर।

चारित्र पालने की प्रेरणा

जीव जहीहि धनादिकतृष्णाम्
मुच ममत्वं लेश्यां कृष्णाम्।
घर चारित्रं पालय शीलम्
सिद्धिवधूक्रीडावललीलम्।।२।।

हे संसारी आत्मा ! तू धनादिक की तृष्णा, ममत्व रूप परिणामों का व कृष्ण लेश्या

का त्यागकर दे तथा मुक्ति रूपी वधू से क्रीडा करने के लिये वर (विवाहेच्छुक व्यक्ति) की लीला रूप चारित्र तथा शील को धारण कर।

संसार स्वरूप दिग्दर्शन

अध्रुवमिदमाकलय शरीरम्
जननीजनकधनादिसदारम्।
वांछां कुरुषे जीव नितांतम्
किं न हि पश्यसि मूढ कृतांतम्।।३।।

भो जीव ! स्त्री सहित, माता, पिता, धनधान्यादिक को व शरीर को निश्चय से नाश होने वाला समझ। इनके हमेशा बने रहने की इच्छा क्यों करता है ? हे मूढ़ात्मन, क्या तुझे यमराज नहीं दिखाई देता है ? अर्थात् कराल काल के जबकि सभी प्राणी कवल (ग्रास) बन जाने वाले हैं, फिर तेरे कुटुम्बीजन क्योंकर बच सकते हैं।

बाल्ये वयसि क्रीडासक्त-
स्तारूण्ये सति रमणीरक्तः।
वृद्धत्वेऽपि धनाशाकष्ट-
स्त्वं भवसीह नितांतं दुष्टः।।४।।

हे आत्मन् ! तू बचपन में खेलने कूँदने में लगा रहा, ज़वानी में स्त्री के साथ विषय भोग भोगता रहा, वृद्धावस्था (बुढ़ापे) में धन-प्राप्ति की आशा रूपी पीडा से पीडित होता रहा। इस प्रकार शरू (बचपन) से लेकर आखिर (बुढ़ापे) तक इस संसार में दुष्टता ही दुष्टता करता रहा।

का ते आशा यौवनविषये
अध्रुवजलबुद्बुदसमकाये।
मृत्त्वा यास्यसि निरयनिवासम्
तदपि न जहसि धनाशापाशम्।।५।।

जल के बलबूजे के समान अनित्य इस शरीर व यौवनावस्था में तू क्या आशा लगाये हुए है ? यह सब तो नाशमान हैं। धन की आशा के कारण मरकर नरक में

रहना पडेगा, फिर भी आश्चर्य है कि, तू धन की प्राप्ति की आशा रूपी जाल को नहीं छोड़ता।

हित-उपदेश

भ्रातर्मे वचनं कुरु सारम्
चेत्त्वं बांछसि संसृतिपारम्।
मोहं त्यक्त्वा कामं क्रोधम्
त्यज, भज त्वं संयमवरबोधम्।।६।।

हे बन्धु ! यदि तू संसार सागर के पार जाना चाहता है तो मेरे सार भूत वचनों के अनुसार कर। ``मोह को छोडकर तथा काम-क्रोध का भी त्याग कर, संयम व सम्यग्ज्ञान को धारण करो।''

उद्बोधन

का ते कांता कस्तव तनयः
संसारोऽपि च दुःखमयो यः।
पूर्वभवे त्वं कीदृग्भूतः
पापास्त्रवकर्मभिरभिभूतः।।७।।

दुखों से भरा हुआ जो संसार है उसमें, जरा सोच तो सही, कि कौन तो तेरी स्त्री और कौन तेरा पुत्र हैः अरे तेरा कोई भी नहीं है। ख्याल भी है उससे पहिली पर्याय में पायों का आस्त्रव करने वाले कर्मो के द्वारा अभिभूत (वश में) होता हुआ कैसा हो रहा था ?

शरणमशरणं भावय सतत-
मर्थमनर्थं चिंतय नियतम्।
नश्वरकायपराक्रमवित्ते
वांछां कुरुषे तस्य हि चित्ते।।८।।

हे मुमुक्षु ! जितने भी सांसारिक शरण-स्थल हैं उनको कभी भी शरण देने वाला न समझ, अपने को अशरण समझे, जितने भी पदार्थ हैं उनको नियम से अनर्थ (बुरा) करने

वाला जानो। नष्ट हो जाने वाली है पराक्रम रूपी सम्पत्ति जिसकी ऐसे नश्वर शरीर की तुम ह्रदय में वांछा करते हो ?

एको नरके याति वराकः
स्वर्गे गच्छति शुभसविवेकः।
राजाप्येकः स्याच्च धनेशः
एकः स्यादविवेको दास।।९।।

यह विचारा संसारी जीव, अकेले ही नरक जाता है तथा अच्छे परिणाम व सुविवेक सहित होने पर अकेले ही स्वर्ग जाता है, राजा अकेले होता है कुबेर अकेले होता है और विवेक रहित सेवकभी अकेले ही होता है।

एको रोगी शोकी एको
दुःखविहीनो दुःखी एकः।
व्यवहारी च दरिद्री एकः
एकाकी भ्रमतीह वराकः।।१०।।

चाहे रोग की दशा हो या शोक पूर्ण दशा हो, दुःखों से रहित हो या दुःख सहित दशा हो, सबको यह जीव अकेला ही भोगता है। इसी तरह व्यवहार चलाने वाला व दरिद्री भी यह जीव अकेला ही होता है। ज्यादा क्या कहैं, विचार यह संसारी प्राणी अकेला ही संसार में चक्कर लगाता रहता है।

अथिरं परिजनपुत्रकलत्रम्
सर्वं मिलितं दुःखामत्रम्।
चेतसि चिंतय नियतं भ्रातः!
का ते जननी कस्तव तातः।।११।।

अरे, पुत्र, स्त्री, कुटुम्बीजन आदि जितने हैं, वे सब अनित्य हैं तथा सब ही मिलकर दुःख देने वाले हैं। हे भाई ! जरा निश्चयनय से मन में विचार तो कर, कि कौन किसकी माता और कौन किसका पिता ? कोई किसी के कुछ नहीं है।

भ्रार्तभूतगृहीतोऽसि त्वम्
दारनिमित्तं हिंससि सत्त्वम्।
तेनाऽधेन च यास्यसि नरकम्
तत्र सहिष्यसि घोरातंकम्।।१२।।

जो तू स्त्री के लिये प्राणियों का घात करता है सो, हे भाई ! मालूम पड़ता है तुझे भूत लग गये हैं। अरे ! उस हिंसा के पाप से नरक में जाना होगा व वहां पर घोर यातनाओं को सहन करना होगा।

विषयपिशाचासंगं मुंच
क्रोधकषायौ मूलाल्लुंच।
कंदर्पप्रभुमानं कुंच
त्वं लुंपेन्द्रियचौरान् पंच।।१३।।

हे भव्यात्मन् ! तू विषय रूपी पिशाचों से नेह लगाना छोड़ दे, क्रोध व कषाय को जड़मूल से उखाड़कर नष्ट करदे, कामदेव के धमंड के टुकडे २ कर डाल तथा इन्द्रिय रूपी पांच चौरों को अपने आधीन कर।

कुत्सितकुथितशरीरकुटीरम्
स्तननाभी मांसादिविकारम्।
रेतःशोणितपूयापूर्णम्
जघनच्छिद्रं त्यज रे ! तूर्णम्।।१४।।

यह शरीर रूपी कुटिया अत्यन्त ही सड़ी गली व मैली कुचैली है, नारियों के स्तन-युगल व नाभिभाग मांसादिक के विकार मात्र ही हैं तथा जघनस्थित छिद्र (योनि), वीर्य, खून व पीप आदि घृणोत्पादक पदार्थों से भरा हुआ है अतः जन्मत्त मानव ! इनसे राग करना छोड़।

संसाराब्धौ कालमनंतम्
त्वं वसितोऽसि वराक ! नितांतम्।

अद्यापि त्वं विषयासक्तः
भव तेषु त्वं मूढ ! विरक्तः ।।१५।।

रे दयापात्र प्राणी ! तू इस संसार महासागर में अनन्त काल तक रहता रहा; और आज तक भी इन्हीं विषयों में लव लीन हो रहा है, ऐ मूढ मानव ! इनसे तू विरक्त हो।

दुर्गतिदुःखसमूहैर्भग्न-
स्तेषां पृष्टे पुनरपि लग्नः।
विकलो मत्तो भूताविष्टः
पापाचरणे जंतो ! दुष्टः ।।१६।।

नरक गति आदि दुर्गतियों के अनेक दुःखों से, यद्यपि अनेक बार जर्जरित हो गया है फिर भी तू उन्हीं के पीछे हाथ धोकर पड़ा हुआ है, ऐ क्षुद्र कीट ! तू अधर्म-आचरण में लगा हुआ है जिससे कि, दुष्ट, इन्द्रिय ज्ञान से रहित, मद से उन्मत्त, भूतों से पकड़ा हुआ सा पागल गिना जाता है।

सप्तधातुमयपुद्गलपिंडः
कृमिकुलकलितामयफणिखंडः।
[1]..........................
तदपि हि मूर्ध्नि पतति यमदंडः ।।१७।।

यह पुद्गल पिंड (शरीर) सात धातु कुधातुओं से भरा हुआ है, इसमें अनेक ही कीड़े (Germs) भरे हुए हैं गरज यह कि यह शरीर पीप खून आदि मलों से परिपूर्ण है। इतनी ही खराबी हो, सो बात नहीं है किन्तु इसके सिर पर हमेशा कराल काल का डंडा तथा हुआ रहता है। इसलिये-

मा कुरु यौवनधनगृहगर्वम्
तव कालस्तु हरिष्यति सर्वम्।
इंद्रजालमिदमफलं हित्वा
मोक्षपदं च गवेषय मत्वा।।१८।।

१ अस्ति मलादिक पूर्णः पिण्डः- यह पाद यहां जोडा जा सकता है।

रे प्राणी ! तु यौवन, सम्पत्ति, मकान आदि का धमणड मत कर, काल (यमराजा) तेरी इन सब बातों को नष्ट कर डालेगा, इसलिये इन सबको, इन्द्र जाल के सामन निष्फल समझ, तु छोड दे तथा मोक्ष के मार्ग की खोज कर।

नीलोत्पलदलगतजलचपलम्
इंद्रचापविद्युत्समतरलम्।
किं न वेत्सि संसारमसारम्
भ्रांत्या जानासि त्वं सारम्।।१९।।

हे संसार स्थिति आत्मा ! क्या तू इस बात को नही जानता कि नीले रंग के कमल-पत्र पर पडे हुवे पानी के समान चंचल और इन्द्र धनुष तथा विजली के समान, यह संसार क्षणिक व विनाशीक है। तू इसे केवल बुद्धि-बिभ्रम के कारण सार भूत समझता है।

शोकवियोगभयैः संभरितम्
संसारारण्यं त्यज दुरितम्।
कस्त्वां हस्ते दृढमिव धृत्वा
बोधिष्यति कारुण्यं कृत्वा।।२०।।

हे प्राणी ! यह संसार रूपी महावन नाना प्रकार के दुःख शोक, भय आदि से परिपूर्ण है, पापों से भरा हुआ है, इसलिये इससे तू मोह छोड़, ज्यादा कहां तक कहें, तू समझता हो कि ईश्वर मुझ पर दयालु हो हाथ पकड़ कर सुख में विराजमान कर देगा सो झूठी बात है। अरे, ऐसा कौन है जो तेरा जोर से हाथ पकड़ कर, तथा करुणा करके तुझे समझावेगा ? अपने उद्धार व हित संपादन के लिये तो तुझे ही अपने पैरों पर खड़ा होना होगा, आचार्य वाक्य तो मात्र आलम्बन दे सकेंगे।

मुंच परिग्रहवृन्दमशेषम्
चारित्रं पालय सविशेषम्।
कामक्रोधनिपीलनयंत्रम्
ध्यानं कुरु रे जीव ! पवित्रम्।।२१।।

हे जीव ! संपूर्ण अभ्यंतर तथा बहिरंग परिग्रहों को छोड़ कर पूर्ण चरित्र का पालन

कर, तथा काम क्रोधदिक को पेल कर नष्ट कर देने वाले, यंत्र के समान जो पवित्र ध्यान है उसे धारण कर।

मुचं विनोदं कामोत्पन्नम्
पश्य शिवं त्वं शुभसंपन्न।
यास्यसि मोक्षं प्राप्स्यसि सौख्यम्
कृत्वा शुक्लं ध्यानं सख्यम्।।२२।।

काम से उत्पन्न हुए विनोदों (मजा) को तू छोड़ दे तथा कल्याण परम्पराओं से युक्त मोक्षपथ की ओर उन्मुख हो। मित्र के समान हितकारी शुक्ल ध्यान का चिन्तवन कर, इससे तुझे सुख प्राप्त होगा और अन्त में मोक्ष को भी प्राप्त कर लेगा।

आशावसनवसानो भूत्वा
कामोपाधिकषायान् हित्या।
गिरिकंदरगहनेषु स्थित्वा
कुरु सद्ध्यानं ब्रह्म विदित्वा।।२३।।

आशा रूपी जो वस्त्र, वही हुआ परिग्रह, उसका परित्याग कर, काम की उपाधि (लगेठा) रूप जो कषाय हैं उनको भी छोड़ कर ब्रम्ह स्वरूप आत्मा का परिज्ञान कर तथा विशाल, अंधकार से पूर्ण, पर्वतों की गुफाओं में बैठकर तू सच्चिदानन्द मय आत्मस्वरूप का चिन्तवन कर।

ध्यानाभ्यास के लिये प्रेरणा

यमनियमासनयोगाभ्यासान्
प्राणायामप्रत्याहारान्।
धारणध्येयसमाधीन् धारय
संसाराब्धेर्जीवं तारय।।२४।।

हे मुमुक्षु प्राणी ! तू यम, नियम, आसन, योगाभ्यास, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्येय, समाधि आदि को, (ये ध्यान के मुख्य तत्व या अंग हैं) धारण कर, तथा इसकी ही सहायता से आत्मा को भवसागर से तार कर पार लगा, अर्थात्, मुक्ति रमा को वर।

अर्हत्सिद्धमुनीश्वरसाक्षम्
चारित्रं यदुपात्तं दक्षम्।
तत्त्वं पालय यावज्जीवम्
संसारार्णवतारणनावम्।।२५।।

अरहंत सिद्ध व बडे बडे योगिराजों की साक्षी पूर्वक जो तूने सब से श्रेष्ठ चारित्र स्वीकार (धारण) किया है उसको तू जब तक जीवन है तब तक पालन करते रहना क्योंकि भव समुद्र को पार करने के लिये वह (चारित्र) एक अच्छी नौका है। उसके बिना पार पहुंचना कठिन ही नहीं, अपि तु असंभव है।

सावधिवस्तुपरित्यजनं यत्
रक्षय शुंद्ध मनाः शुद्धं तत्।
औदस्यं शाम्यं संपालय
आशादासीसंगं वारय।।२६।।

तूने अवधि (मर्यादा) सहित जो वस्तुओं (इंद्रिय विषयों) का परित्याग किया है, ऐसे उस शुद्ध त्याग का शुद्ध हृदय से रक्षण कर, राग द्वेष से सहित अवस्था रूप उदासीनता व शमता का पालन कर तथा आशा रूपी दासी का संग (साथ) छोड़ दे।

पर्यंकादिविधेरभ्यासम्
यत्नतया कुरु योगाऽभ्यासम्।
दुर्धरमोहमहासितसर्प
कीलय बोधय मर्दय दर्पम्।।२७।।

हे प्राणी ! गोदूहन, पर्यंक, पद्मासन आदि आसनों को विधि पूर्वक सावधानी से करते हुए योगाभ्यास को कर। बड़ी मुश्किल से वश में आनेवाला जो मोह रूपी भयंकर काला नाग है उसको कीलित कर दे, तथा अपने आत्म स्वरूप को समझ, मद (घर्मंड) को भी चूर्ण चूर्ण कर नष्ट कर डाल।

पूरककुंभकरेचकपवनैः
संसारेन्धनदाहनदहनैः।

कृत्वा निर्मलकायं पूर्वम्
त्वं यदि वांछसि मोक्षमपूर्वम्।।२८।।

हे आत्मन् ! यदि तू अपूर्व मोक्ष-पदवी को प्राप्त करना चाहता है तो संसार रूपी ईंधन को जलाने के लिये अग्नि के समान जो पूरक, कुम्भक व रेचक हैं, उनसे अपने शरीर को निर्मल व शुद्ध बना।

प्राणायम विधि

घ्राणविनिर्गतपवनसमूहम्
रुंधित्वा स्फोटय कलिनिबहम्।
दशमद्वारि विलीनं कुरु त्वम्
लभसे केवलबोधमनंतम्।।२९।।

हे ध्यान करने वाले प्राणी ! नासिका से निकली हुई वायु (श्वास) समुह को रोक कर पापों के समूह का नाश कर, इसके बाद उसको (वायु समूह को) दशम द्वार में ले जाकार विलीन कर दे ऐसा करने से तुझे अनन्त-ज्ञान की प्राप्ति होगी। इसमें व आगे के श्लोकों में प्राणायाम पूर्वक ध्यान घरने की विधि को कवि ने दर्शाने का प्रयत्न किया है।

पूरक का लक्षण

हृदयादानीय च नाभिं प्रति
वायुं तदनु च तं पूरयति।
योगाभ्यासचतुरयोगींद्राः
पूरकलक्षणमाहुरतंद्राः।।३०।।

हृदय-स्थल से लेकर वायु का जो प्रवाह नामि भाग की ओर प्रवाहित किया जाता है तथा इसके बाद उसका जो पूरण किया जाता है उसे आलस्यादि रहित, योग के अभ्यास करने में निपुण, जो योगीन्द्र हैं वे ``पूरक'' कहते हैं।

कुंभक का लक्षण

नाभिसरोजे पवनं रुध्वा
स्थिरतरमत्र नितांतं बध्वा।

पूर्णकुंभवन्निर्भररूपम्
कथयति योगी कुंभकरूपम्।।३१।।

योगी गण कहते हैं कि :-

``नामि रूपी कमल में उस (पूरक) पवन को रोक कर वहीं स्थिर कर, व चारों तरफ से संयमित कर जैसे कुम्भ (घड़ा) भरा जाता है वैसे वायु का अच्छी तरह से हृदय में भरे रहना सो कुम्भक है''।

निस्सारयति शनैस्तं कोष्ठात्
पवनं यो योगीश्वरवचनात्।
रेचकवातं योगी कथयति
यो जीवान् मोक्षं प्रापयति।।३२।।

प्राणायाम करने वाला जो व्यक्ति, योगीन्द्र के वचनों का अनुसरण करते हुए धीरे धीरे उस कुंभक वायु को कोष्ठ (पेट) में से निकालता है, उसकी उस क्रिया को रेचक कहते हैं, जो कि परम्परया जीवों को मोक्ष-प्राप्ति करा देती है।

प्राणायाम करते हुए ध्यान की विधि

नासामध्ये नगरचतुष्टय-
मस्ति नितांतं मूढ ! विचारय।
तत्रोत्पत्तेर्वातचतुर्णां
संचरणां च कलय संपूर्णाम्।।३३।।

प्राणायाम की साधना करते हुए ध्यान कैसे करना चाहिये, उस समय क्या सोचना चाहिये आदि बातों का विवेचन इस श्लोक में व आगे के श्लोकों में किया जाता है:-

हे मूढ़ मानव ! तू इस बात का विचार कर कि ``नालिका के मध्य भाग में चार नगर है, उन नगरों से चार प्रकार की वायु की उत्पत्ति होती है, सो तू उन पवनों की समस्त संचरणा (गमनागमन क्रिया) को भली भांति समझ।

चक्षुर्विषये श्रवसि ललाटे
नाभौ तालुनि हृत्कनिकटे।

तत्रैकस्मिन् देशे चेतः
सद्ध्यानी धरतीत्यतिशांतम्।।३४।।

सुचारु रीति से सद् ध्यान करने वाला व्यक्ति निम्न लिखित स्थानों में से किसी एक प्रदेश (स्थान)में अपने अत्यन्त शान्त मन को स्थिर करता है। अपने मन को वह नेत्र-स्थल में, श्रोत्र प्रदेश में, ललाट पर, नामि भाग में, तालु प्रदेश में या हृदय रूपी कमल के पास धारण करता है।

योजनलक्षप्रमितं कमलम्
संचित्यं जांबूनदविमलम्।
कोशदेशमंदिरगिरिसहितम्
क्षरिसमुद्रसरोवरसहितम्।।३५।।

इसके बाद उसे चाहिये कि वह एक लाख योजन की लम्बाई व चौड़ाई को लिये हुए, जामुन के रंग के समान रंग वाले एक निर्मल कमल की कल्पना करे। वह यह भी कल्पना करे कि कमल क्षीरसागर के बीच में खड़ा हुआ है व उसके मध्य भाग में मेरु पर्वत खड़ा हुआ है।

तस्योपरि सिंहासनमेकम्
तत्र स्थित्वा कुरु सद्ध्यानम्
[१]......................................
प्राप्स्यसि जीव ! शिवामृतपानम्।।३६।।

उस मंदराचल पर, जो कि कमल के मध्य भाग में स्थित है, एक निर्मल शुद्ध स्फटिक के समान श्वेत सिंहासन की कल्पना करे। उस पर बैठ कर, अपने शुद्ध आत्मस्वरूप रूप, सद्ध्यान को ध्यावे। ऐसा करने से, हे जीव ! तुझे मोक्ष रूपी अमृत का पान प्राप्त होगा।

तद्दनन्तरमाध्येयं रम्यम्
नाभीमध्ये कमलं सौम्यम्।

१ चेतय सिद्धस्वरूपममानम् (वे.म.र.पेज १६ लालारामजी कृत अनुवाद) यह पाद उपरि लिखित स्थान की पूर्णि हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है

षोडशपत्रप्रमितं सारम्

स्वरमालान्वितपत्राधारम्।।३७।।

सिंहासन पर विराजमान होजाने बाद, अपनी नामि के मध्य भाग में एक रमणीक तथा लुभावने कमल की चिन्तना करे तथा यह भी विचारे कि वह श्रेष्ठ सोलह कमल-दल से, जिन पर कि सोलह स्वर (अ. आ आदि) लिखे हुए हैं, युक्त है।

रेफकलाबिंदुभिरानद्धम्

तन्मध्ये संस्थाप्यं शुद्धम्।

शून्यं वर्णं सत्वंतव्यम्

तेजोमयमाशं संदिव्यम्।।३८।।

उस कमल के मध्य भाग (कर्णिका भाग) में अत्यन्त दिव्य, सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाश-पुंज से प्रकाश युक्त करने वाले, शुद्ध, रेफ-कला व विन्दु से युक्त तथा ``शून्य वर्ण'' यह है संज्ञा जिसकी ऐसे ``र्हं'' वर्ण का चिन्तवन कर।

तम्मान्निर्यान्ती धूमाली

पश्चादग्निकणानामाली।

संचित्यानुच्वालाश्रेणी

भव्यानां भवजलधेर्द्रोणी।।३९।।

उपर लिखित कल्पना कर लेने के अनन्तर ``र्हं'' के रेफ से धूम्र-पंक्ति को निकलता हुआ समझे अर्थात् कर्मों में ध्यानाग्नि के लग जाने से उस रेफ़ से धुंआ निकल रहा है ऐसा ख्याल करे फिर धीरे धीरे आग के साथ ही उसमें से अग्नि-कण-समुह (चिनगारियां) निकल रहा है ऐसा समझे, अन्त में ऐसा विचारे कि भव्य जीवों को संसार-सागर से पार उतरने के लिये कारणीभूत नौका कें समान धक-धकाती हुई, अग्नि ज्वालाऐं निकल रही हैं।

ज्वालानां निकरेण ज्वाल्यम्

कर्मकजाष्टकपत्रं शल्य..।

अवतानं हृदयस्थं चिंत्यम्

मोक्षं यास्यसि मानय सत्यमं।।४०।।

फिर इसके बाद कल्पना करे कि नाभि-भाग के ऊपर हृदय-स्थल के समीप आठ पांखुडी वाला कमल, जिसमें कि प्रत्येक दल पर शल्य स्वरूप आठ कर्म रक्खे हैं, जो कि नीचे के कमल से निकलने वाली ज्वालाओं से जल रहा है। हे प्राणी ! तू विश्वास रख, ऐसा करने से अवश्य मोक्ष जायगा।

चार धारणाओं में से आग्नेयी धारणा का स्वरूप

कोणत्रितयसमन्वितकुंडम्
वन्दिबीजवर्णैरविखंडम्।
दग्धय मध्ये क्षिप्त्वा पिंडम्
पश्यसि सिद्धिवधूवरतुंडम्।।४१।।

फिर ऐसा विचारे कि, तीन कोण हैं जिसके ऐसा तिकोनिया अग्निकुण्ड, जो कि अग्निवीजाक्षर-रं-से परिपूर्ण है, शरीर के बाहर स्थित है। फिर उस अग्नि-कुण्डके बीच में अपने आपको डाल, जलावे अर्थात् वह जीव विचारे कि बीजाक्षर से पूर्ण, धकधकाते हुए अग्नि-कुण्ड में मेरा मल रूप शरीर जल रहा है। हे मानव ! इस प्रकार के चिंतवन से तू मुक्ति-रमा का रमणीक व श्रेष्ठ मुख अवश्य देख लेगा। इस श्लोक में कवि ने चार धारणाओंमें से प्रथम आग्नेयी धारणा का स्वरूप विवेचित किया है।

मारुती धारणा का स्वरूप

आकाशं सुंवर्णं व्याप्य
पृथ्वीलयं सर्वं प्राप्य।
वातं वातं ह्राद संभारय
परमानंदं चेतसि धारय।।४२।।

आग्नेयी धारणा के पश्चात् हृदय में कल्पना करे, कि सम्पूर्ण नभ मण्डल में फैलने वाली, पृथ्वी मण्डल के सम्पूर्ण हिस्सों में पहुचने वाली, जोर की वायु बह रही है तथा हृदय में महान आनन्द का अनुभवन करे।

तेन वातवलयेनोड्डाप्यम्
भस्मवृंदमनुदिनमास्थाप्यम्।

द्वादशांतमध्ये सद्धयानम्
कुरु सिद्धानां परमं ध्यानम्।।४३।।

फिर विचारे या चिंतवन करे कि उस जोर के बहने वाले वायु समूह के द्वारा अग्नि में जली हुई उस शरीर की भस्म यहां वहां उड़ा दी गई। तदनन्तर उस उठे हुए वायु बवंडर को सद्ध्यान द्वारा धीरे २ बारहवें स्थान के अन्त स्थान में स्थापित करे। फिर सिद्ध भगवान के स्वरूप का चिंतवन करना चाहिये। यह दूसरी-मारुती-धारणा का स्वरूप है।

वारुणी धारणा का स्वरूप

आकाशे संगर्जितमुदिरम्
सेन्द्रचापमासारसुसारम्।
नीरपूरसंप्लावितसूरम्
संरोध्येति घनाघननिकरम्।।४४।।
अर्धचंद्रपुटसमंसराधम्
वारणपुरसंचिंत्यमबाधम्।
अमृतपूरवर्षणशशिसारम्
तुष्टयोगिवप्पीहकनिकरम्।।४५।।
कांत्या स्नापितदशदिग्वलयम्
दर्शनबोधवीर्यशित्रनिलयम्।
चिन्मयपिंडं वर्जितवलयम्
स्मर निजजीवं निर्मलकायम्।।४६।।

कवि इन श्लोकों में वारुणी धारणा के स्वरूप को रखने का प्रयत्न कर रहा हैं :-

मारुती धारणा के अनन्तर उस ध्यान करने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह आकाश में गर्जना करते हुए घनधोर बादलों का, खूब गहरे रंग वाले, विशाल, इन्द्रधनुष का, बिजली का, जलवर्षा का, जल के प्रवाह के पूर से सूर्य के बह जाने का चिंतवन करे, अर्थात् वह समझे कि जोर की वर्षा हो रही है, बिजली चमक रही है, पानी के जोरदार प्रवाह से सूर्य भी बहा जा रहा है, घनघोर घटाऐं छाई हुईं हैं। इसके बाद बाधाओं से रहित,

अर्ध चन्द्र के समान गोल, मानो कि श्रेष्ठ चन्द्र मण्डल से वर्षा हो रही हो ऐसा सम्पूर्ण क्रियाओं व अभिलाषाओं की पूर्ति कर देने वाले वरुणपुर (मण्डल) का चिंतवन करना चाहिये। इसके बाद अपनी मनोहर कांति से जिसने दशों दिशाओं को निर्मल कर दिया, जो दर्शन, ज्ञान, वीर्य व मोक्ष रूप है, जिसमें गोलाई, लम्बाई आदि विकार नहीं पाये जाते है, जिसका निवास स्थान रूप शरीर अत्यन्त निर्मल है ऐसी सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा का हृदय में चिंतवन कर।

तत्वरुपवती धारणा का स्वरूप

भामण्डलनिर्जितरविकोटिम्
शुक्लध्यानामृतसंपुटिम्
तीर्थंकरपरमोत्तमदेवम्
स्वात्मानं स्मर कृतसुरसेवम्।।४७।।

फिर, करोड़ों ही सूर्यो की प्रभा जिसके द्वारा जीती जा रही है ऐसे प्रभामण्डल से समन्वित, जो शुक्ल ध्यान रूपी अमृत से परम मुक्ति को प्राप्त कर रहे हैं, जिनकी देवगण सेवा कर रहे हैं ऐसे जो सर्वोत्कृष्ट देवाधिदेव तीर्थंकर देव हैं उनके स्वरूप वाला या वही, मेरी आत्मा है, ऐसा विचार करना चाहिये। इस प्रकार के विचारों की धारा को तत्वरूपवती धारणा कहते हैं।

अनाहत मंत्र के ध्यान की प्रेरणा

कुंभवातेन च तं संचित्यम्
ऊर्ध्वरेफसंयुक्तं नित्यम्।
सकलविंदुनानाहतरूपम्
स्थापय चित्ते छेदितपापम्।।४८।।

इन धारणाओं का ध्यान कर लेने के बाद, जिसने सम्पूर्ण पापों का छेदन कर दिया है, जो सम्पूर्ण, बिन्दु व उर्ध्व रेफ कार से युक्त है, हमेशा ही ध्यान करने योग्य जो अनाहत मंत्र है, उसको कुंभक वायु के द्वारा तू अपने हृदय में स्थापन (धारण) कर।

कमलमेकमारोपय चाग्रे
आरोप्य स्मर तद्दलवर्गे।
सर्वमंत्रबीजं हृति नितराम्
कामक्रोधकषायैर्विरतम्।।४९।।

इसके अनन्तर अपने आगे एक कमल की कल्पना करे तथा उसके दलों (पाखुडियों) पर सम्पूर्ण मंत्रों के बीज रूप स्वरों का स्थापन कर, पूर्ण रूपेण काम क्रोधादि कषायों से विरत होता हुआ, उसका हृदय में चिन्तवन करे।

शरदिंदोर्निर्गच्छंतं संतम्
मंत्रराजमाराधय सततम्।
तालुसरोरुहमागच्छुंतम्
मेघामृतधारावर्षंतम्।।५०।।

शरदकालीन पूर्ण चन्द्रमा से निकलने वाली किरणों के सदृश शुभ, शुद्ध, एवं समीचीन मंत्रराज का निरन्तर ही जपन या आराधन करना चाहिये ! इसके बाद कल्पना करना चाहिये कि तालु रूपी कमल के समीप मंत्रराज, जैसे मेघ जल की वर्षा करते हैं, वैसे ही वे सुधारस की धारा या झडी बरसा रहे हैं।

भूलतयोर्मध्ये चारोप्यम्
उड्डाप्य घ्राणाग्रे स्थाप्यम्।
पुनरुद्भाम्य च हृदये धार्यम्
नेत्रोत्पलविषये तत्कार्यम्।।५१।।

तदनन्तर तालु स्थान से उन मंत्रराज को उठाकर, भोहें रूपी लता के मध्यभाग में स्थापित करना चाहिये। वहां से उठा उन्हें नासिका के अगले हिस्से पर व वहां से भी उठाकर हृदय में धारण करना चाहिये। अंत में वहां से मी उठाकर उन मंत्रराज को नयन रुपी कमलों में विराजमान कर उनका ध्यान (चिन्तवन) करना चाहिये।

सोमदेवसूरेरुपदेशः
कार्यश्चित्ते शुभसंवेशः।

लं बीजाक्षरमारोप्यांते
विद्वद्भिर्मुक्त्यै नासांते।।५२।।

शुभ शुद्ध एवं समीचीन है अभिप्राय जिसका, ऐसे श्री सोमदेव सूरि (आचार्य) द्वारा प्रदत्त उपदेश का बार २ चिन्तवन या पर्यवेक्षण करे। इसके बाद मुक्ति-प्राप्ति-हेतु ``लं'' वीजाक्षर को नासिका के अंतिम हिस्से पर स्थापित कर ध्यान करे।

मंत्र स्मरण से संसार-संतरण

एवमादिमंत्राणां स्मरणम्
कुरु जीव ! त्वं तेषां शरणम्।
यत् सामर्थ्याद्विजहसि मरणम्
संसाराब्धेः कुरुषे तरणम्।।५३।।

हे मुमुक्षु, मानव । इसी तरह के अन्य अनेक मंत्र है उनका तु स्मरण कर, चिन्तवन कर उन्हीं की शरण को प्राप्त कर, क्यों कि उन्हीं मंत्रों की शक्ति (प्रभाव) से तू जन्म मरण के दुःख से छुटकारा प्रापत् कर लेगा साथ ही संसार समुद्र के पार भी उतर जायगा।

मंत्र-स्मरण का फल

अविचलचित्तं धारण बंधो !
यास्यसि पारं संसृतिसिंधोः।
त्वं च भविष्यसि केवलबोधो
हंसत्वं प्राप्स्यसि शिवसिंधोः।।५४।।

हे भाई। अपने चित्त को चलायमान (ढुलमुल) न करते हुए मंत्रों को ध्यावो, उनको धारण करो। तुम विश्वास रक्खो कि उन मंत्रों के प्रभाव से संसार रूपी महासागर के अवश्य ही पार पहुंच जाओगे। इतना ही नहीं, तुम्हें, इनकी ही सामर्थ्य से केवलज्ञान की प्राप्ति भी होगी अर्थात् तू स्म्पूर्ण पदार्थों का जानने वाला हो जायगा, ज्यादा क्या कहें मानसोरवर के मराल समान, मोक्षरूपी सरोवर में विहार करने वाला मन मोहक मराल बन जायगा अर्थात् मुक्ति की भी प्राप्ति हो जायगी।

सिद्ध स्वरूप के चिंतवन की प्रेरणा

शुद्धरूपचिन्मयचित्पिंडम्
विज्ज्योतिश्रिच्छत्क्योनीडम्।
चिद्रम्यं चित्वौमुदिचंद्रम्
स्मर बोघाधिपतिं गुणसांद्रम्।।५५।।

हे स्वहितसम्पादन में तत्पर बन्धु। कर्म मल से रहित अत्यन्त शुद्ध स्वरूप है जिसका, जो चैतन्य मय व चित्पिड स्वरूप है, जो स्वपरविवेक रूप ज्ञान ज्योति से सुशोभित है, जो चैतन्य शक्ति की आधार भूमि है, जो चैतन्य शक्ति से ही रमणीक दिखाई देता है, जो चैतन्य रूपी चांदनी छिटकाने के लिये चन्द्र के समान है, तथा जो सर्व गुण सम्पन्न है ऐसे बोध के अधिपति रूप सिद्ध परमेष्ठी का स्मरण कर, उनका तू ध्यान कर।

निर्मलचिद्रूपामृतसिंधुम्
शुक्लध्यानांबुजकजबंधुम्।
सिद्धिवधूसरसीवरहंसम्
पश्य शिवं शांतं च निरंशम्।।५६।।

हे प्राणी ! शुद्ध (मल रहित) चैतन्य रूप जो अमृत उसके समुद्र के समान, शुक्लध्यान रूपी कमल को विकसित करने के लिये सूर्य के समान, मुक्ति वधू रूपी तलैया के लिये मनोहर मराल (हंस) के समान जो अत्यन्त शांति सम्पन्न, अखंड स्वरूप ``मोक्ष'' है उसका चिंतवन कर।

मोक्ष स्वरूप के चिंतवन का फल

ज्ञानार्णवकल्लोलकलापे
क्रीडति योऽजस्त्रं शिवरूपे।
नवकेवललब्धिभिरापूर्णः
सेव्यंते मुनिभिर्गतवर्णः।।५७।।

हे माई ! ज्यादा कहां तक कहें, जो राग द्वेष रूपी वर्ण से रहित होता हुआ, नौं प्रकार की लब्धियों से युक्त होता हुआ, निरन्तर (हमेशा) ही, ज्ञानरूपी समुद्र की लहरों

के समूह रूप मोक्ष में किलोलें करता रहता है, उसमें खेलता कूदता रहता है, वह बडे २ योगिराजों के द्वारा सेवित होता है अर्थात् अच्छे २ मुनिगण भी उसकी सेवा करते हैं।

परमात्मा का स्वरूप

केवलकैरविणीविप्रेशम्
मुक्तिकामिनीकर्णवतंसम्।
त्रिभुवनलक्ष्मीभालविशेषम्
लब्धिसौधरत्नानां कलशम्।।५८।।
शिवहंसीसंगमसस्नेहम्
अष्टगुणोपेतं च विदेहम्।
बोधिसुधारसपानपवित्रम्
साम्यसमुद्रं त्रिभुवननेत्रम्।।५९।।
अनाद्यखंडाचलसद्वेद्यम्।
योगिवृंदवृंदारकवंद्यम्।
हरिहरब्रह्मादिभिरभिवंद्यम्
केवलकल्याणोत्सवहृद्यम्।।६०।।
श्रुतशैवलिनीसुरगिरिविधुरम्
निःश्रेयसलक्ष्मीकरमुकुरम्।
कर्म्ममहीधरेभदनभिदुरम्
श्यामंश्रीग्रीवालंकारम्।।६१।।
व्योमाकारं पुरुषमरूपम्
निर्वापितसंसृतिसंतापम्।
वर्जितकामदहनसंपातम्
त्रिभुवनभव्यजीवहिततातम्।।६२।।

इत्यादिकगुणगणसंपूर्णम्
चिंतय परमात्मानं तूर्णम्।
अष्टप्रवचनमातुः पितरम्
पारीकृताजंवजवपारम्।।६३।।

कवि ने उपरिलिखित श्लोकों में जीव को परमात्म-स्वरूप करने का स्मरण सत्परामर्श देते हुए परमात्मा की गुणावलि को सामने रखने का प्रयत्न किया है। वह लिखता है कि-

हे भव-भय-भीरु भव्यात्‌ ! तू संसार के विषय भोगों से विमुख हो जल्दी ही परमात्मा का ध्यान धर। परमात्मापद में स्थित सिद्ध भगवान कैसे है, इस बात को आगे के विविध विशेषण पदों से बतलाते हैं कि वे (सिद्ध भगवान) केवलज्ञान रूपी कुमुदनियों को विकसित करने को पूर्ण चन्द्र के समान हैं, मुक्तिरूपी कमनीय कामिनी (स्त्री) के कर्णावतंस (एरन या कनफूल) के समान हैं, तीनों लोकों को सुशोभित करने वाले लक्ष्मी के तिलक के समान है और नवलब्धिरूपी रत्नविनिर्मित महलों के कलश के समान हैं, ऐसे परमात्मा का तू चिंतन कर।

इतना ही नहीं, वे मुक्ति रूपी हंसनी के साथ समागम करने के लिए स्नेह (प्रेम समान हे (वे) देह रहित व सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सम्पन्न हैं, ज्ञान रूपी अमृत के पीने से अत्यन्त पवित्र हैं, समता के समुद्र हैं और तीनों लोकों के नेत्र हैं।

उनका सत्रूप से वेदन होने वाला सुख, खंड रहित, अनादि व कमी मी चलायमान नहीं होने वाला है, वे श्रेष्ठ योगियों के समुह द्वारा वन्दनीय हैं, ब्रह्मा, विष्णु व महेश भी उनकी अभ्यर्थना करतेहैं तथा केवलज्ञानकल्याणरूप महोत्सव से सुशोभित हैं।

द्वादशांगरूप श्रुतज्ञान सरिता के उद्गम के लिए वे मन्दराचल (सुमेरु) पर्वत के समान हैं, मोक्ष रूपी लक्ष्मी को मोहित करने के लिए करस्थित दर्पण के समान हैं, कर्म रूपी पर्वतों के विदारण के लिए वज्र के समान हैं तथा मोक्ष-लक्ष्मी रूपी रमणी की ग्रीवा (गेल) के अलंकार हैं।

आकाश के आकार के समान आकार रखने वाले हैं, पुरुषा कार हैं, व रूप रहित हैं। जिनके सम्पूर्ण सांसारिक संताप नष्ट होगये हैं, जो कामाग्नि-पात से रहित हैं तथा जो तीनों कोलों के भव्य जीवों के हित संपादन में पिता के समान तत्पर है, ऐसे सिद्ध भगवान का चिन्तवन कर।

उपरिलिखित गुणों के सदृश और भी अनेक गुणों से जो सम्पन्न हैं, जो अष्ट प्रवचन रूप माताओं के अर्थाभिव्यक्ति के लिए पिंता के समान हैं तथा जो संसार समुद्र के पार पहुंच चुके हैं ऐसे सिद्ध भगवान का सतत चिंतवन करता रहे।

निजदेहस्थं स्मर रे मूढ !
त्वं नो चेद् भ्रमिष्यसि गूढः।
मूर्खाणां मध्ये त्वं रूढः
त्वं च भविष्यस्यग्रे षंढः।।६४।।

हे सद्बोपराङ्मुख-मूढ़ मानव ! अपने शरीर में वर्तमान ईश्वर स्वरूप का चिंतवन कर, यदि ऐसा नहीं करेगा तो ध्यान में रख, संसार में खूब ही चक्कर लगाने पडेंगे। मूर्खो में मूर्ख शिरोमणि कहलाओगे तथा अगली पर्यायों में या जीवन में नपुंसक (कर्तव्यपराङ्मुख) होजाओगे।

एकमनेकं स्वं संभारय
शुद्धमशुद्धं स्वं संतारय।
लक्ष्यमलक्ष्यं स्वं संपारय
कर्मकलंकं स्वं संदारय।।६५।।

हे आत्मन। तू अपने आपको एक व अनेक स्वरूप समझ, अपनी शुद्ध व अशुद्ध दशा का परिज्ञान प्राप्त कर, उसे संसार सागर से तार, लक्ष्य व अलक्ष्य का विवेक कर, अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सचेष्ट हो; तथा अपनी आत्मा में लगे हुए कर्म कलंक का, तू सर्वथा विनाश करने के लिये प्रयत्न कर।

बद्धमबद्धं रिक्तमरिक्तम्
शून्यमशून्यं व्यक्ताऽव्यक्तम्।
रुष्टरुष्टं दुष्टादुष्टम्
शिष्टमशिष्टं पुष्टाऽपुष्टम्।।६६।।
अंतर्भेदज्ञानविचारैः
व्यवहारव्यवहारासारैः।

वर्ण्यंते देहस्थं पुरुषै
विंषयर्विरक्तैर्ज्ञानविशेषैः ।।६७।।

जिनके अंतस्तल में स्वपर-विवेकरूप भेद-ज्ञान-ज्योति जागृत रहती है, जो व्यवहार एवं निश्चयनय के सार के जानने वाले हैं; विषयों से जो उदासीन हैं, तथा जो केवलज्ञान रूप विशेष बोध से विशिष्ट हैं ऐसे महापुरुष, इस शरीर में वर्तमान आत्मा को कर्मो से बंधी हुई व कर्मों से बंधी हुई व कर्मों से नहीं बंधी हुई, रागद्वेषादि भावों से युक्त तथा उनसे अयुक्त (रहित), मूर्तीक तथा अमूर्तीक, व्यक्त एवं अव्यक्त, सरागी एवं विरागी, पाप सहित व पाप रहित, सज्जन एवं दुर्जन, तथा सचिदानन्द रुप सुधारस पान से पुष्ट तथा उससे रहित, उद्‌घोषित करते हैं।

इसलिये अशुद्ध दशा का परित्याग कर शुद्ध दशा की प्राप्ति हेतु इस जीवात्मा को क्या करना चाहिये, उसे आगे के श्लोकों में दिखलाते हैं।

शुद्ध दशा-प्राप्ति का उपाय

विरम विरम बाह्यादिपदार्थे
रम रम मोक्षपदे च हितार्थे।
कुरु कुरु निजकार्यं च वितंद्रः
भव भव केवलबोधयतीन्द्रः।।६८।।

हे भव्य आत्मा ! तू स्त्री, पुत्र, महल, मकानादि जो बाह्य पदार्थ हैं, उनसे अपनी प्रवृति को हटा, राग को दूर कर, विरक्ति रुप परिणामों की वृद्धिकर, हितकारक जो आत्मा के असली वास करने का स्थान शिव (मुक्ति) पद है, उसमें ही लौ को लगा, वहीं क्रीडा कर, आलस्य रहित हो, स्वआत्म स्वरूपावलोकन रूप जो अपना कार्य है उसे पूरा कर, अन्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर यतियों के इन्द्रत्व पद को प्राप्त कर।

मुंच मुंच विषया मिषभोगम्
लुंप लुंप निजतृष्णारोगम्।
रुंध रुंध मानसमातंगम्
धर धर जीव विमलतरयोगम्।।६९।।

हे पाणी ! धृणित, इन्द्रिय-विषय रुपी मांस का उपभोग करना तू छोड़ दे, अपने तृष्णा रूपी रोग को दूर हटा, मद से मदोन्मत्त मानस मतंग (हाथी) को ज्ञानांकुश से वश में कर, अत्यन्त निर्मल योग को धारण कर जिससे कि भव पार हो सके।

चिंतय निजदेहस्थं सिद्धम्
आलोचय कायस्थं बुद्धम्।
स्मर पिंडस्थं परमाविशुद्धम्
कल केवलकेलीशिवलब्धम्।।७०।।

हे भव्यात्् ! तुम अपने शरीर-सदन में पाये जाने वाले शोभा सम्पन्न सिद्ध भगवान का चिन्तवन करो, शरीर में पाई जाने वाली ज्ञान स्वरूप, कर्म मल से रहित शुद्ध आत्म स्वरूप की आलोचना करो, शरीर में ही पाये जाने वाले परम विशुद्ध चैतन्य स्वरूप का चिन्तवन करो और अन्त में केवलज्ञान रूपी केलि (क्रीडा) के द्वारा मोक्ष स्थान की प्राप्ति में सफल प्रयत्न होओ ! अर्थात् इसी तरह सिद्ध आदिक के स्वरूप का स्वात्मा में चिंतवन करते हुए अन्त में स्वयं सिद्ध बन जाओ।

- प्रशस्ति -

वैराग्यमणिमालेयम्
रचिता सप्ततिप्रमा।
ब्रह्मश्रुताब्धिशिष्येण
श्रीचन्द्रेण मुमुक्षुणा।।
इति श्रीचन्द्रकविविरचिता
वैराग्यमणिमालासमाप्ता

जगजाल से छुटकारा प्राप्त करने के लिये विकल (बेचैन) बने रहने वाले, ब्रह्मपद में रत, श्री श्रुतसागरआचार्य के शिष्य श्रीचन्द्र के द्वारा सत्तर लोक की प्रमाण वाली यह वैराग्य-मणि माला बनाई गई।

इस प्रकार सुकवि श्री श्रीचन्द्रजी के द्वारा विनिर्मित
वैराग्य मणि माला
समाप्त हुई

वैराग्यमाणिमाला

की

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकपाद	श्लोक संख्या	पृष्ठसंख्या
अ		
अथिरं परिजनपुत्रकलत्रम्...........................	११	६९
अध्रुवभिदमाकलयशरीरम्.............................	३	६७
अनाद्यखंडांचलसद्वेद्यम्...............................	६०	८५
अर्धचन्द्रपुटसमसंराद्यम्...............................	४५	८०
अर्हंत्सिद्धमुनीश्वरसाक्षिम्..............................	२५	७४
अविचलाचित्तं धारय बंधो..........................	५४	८३
आ		
आकाशे संगर्जितमुदिरम्............................	४४	८०
आकाशं सम्पूर्णं व्याप्य..............................	४२	७९
आशावसदनवसानोभूत्वा...............................	२३	७३
इ		
इत्यादिकगुणगणसम्पूर्णम्............................	६३	८६
ए		
एकमनेकं स्वं संभारय..............................	६५	८७
एको नरके याति वराकः.........................	९	६९
एको रोगी शोकी एको...........................	१०	६९
एवमादिमंत्राणां स्मरणम्.............................	५३	८३
अं		
अंतर्भेदज्ञानविचारैः......................................	६७	८८

श्लोकपाद	श्लोक संख्या	पृष्ठसंख्या
क		
कमलमेकमारोपय चाग्रे	४९	८२
का ते आशा यौवन विषये......................	५	६७
का ते कांता कस्तव तनयः....................	७	६८
कांत्यास्नापितदशदिग्वत्वयम्........................	४६	८०
कुत्सितकुथितशरीरकुटीरम्.........................	१४	७०
कुंभवातेन च तं संचिंत्यम........................	४८	८१
केवलकैरविणी विप्रेशम्..............................	५८	८५
कोणत्रितयसमन्वितकुंडम्	४१	७९
घ		
घ्राणविनिर्गतपवनसमूहम्	२९	७५
च		
चक्षुर्विषये श्रवसि ललाटे	३४	७७
चिंतयपरमात्मानं देवम्...............................	१	६६
चिंतय निजदेहस्थं सिद्धम्........................	७०	८९
ज		
जीव जहीहि धनादिकतृष्णाम्....................	२	६६
ज्वालानां निकरेण ज्वाल्यम्......................	४०	७८
त		
तदनन्तरमाध्येयं रम्यम्	३६	७७
तस्मान्निर्यान्ती धूमाली	३९	७८
तस्योपरि सिंहासंनमेकम्............................	३७	७७
तेन वातवलयेनोड्डाप्यम्..............................	४३	८०
द		
दुर्गतिदुःखसमूहैर्भग्नम्................................	१६	७१

श्लोकपाद	श्लोक संख्या	पृष्ठसंख्या
न		
नाभिसरोजे पवनं रुध्वा.............................	३१	७६
नासामध्येनगरचतुष्टय.................................	३३	७६
निजदेहस्थं स्मर रे मूढ !.....................	६४	८७
निर्मलचिद्रूपामृत सिंधुम्..............................	५६	८४
निस्सारयति शनैस्तं कोष्ठात्....................	३२	७६
नीलोत्पलदलगत जलचपलम्....................	१९	७२
प		
पर्यंकादिविधेरभ्यासम्..................................	२७	७४
पूरककुंभकरेचकपवनैः................................	२८	७५
ब		
बद्धमबद्धं रित्कमरित्कम्.............................	६६	८७
बाल्ये वर्यास क्रीड़ासत्कः..........................	४	६७
भ		
भामंडलनिर्जितरविकेटिम्.............................	४७	८१
भूलतयोर्मध्ये चारोप्यम्...............................	५१	८२
भ्रातर्मूतगृहीतोऽसित्वम्.................................	१२	७०
भ्रातर्मे वचनं कुरु सारम्..........................	६	६८
म		
मा कुरु यौवनधनगृहगर्वम्.........................	१८	७१
मुंच परिग्रहवृन्दमशेषम्................................	२१	७२
मुंचविनोदं कामोत्पन्नम्................................	२२	७३
मुंच मुंच विषयाभिषभोगम्..........................	६९	८८
य		
यमनियमासनयोगाभ्यासान............................	२४	७३

श्लोकपाद	श्लोक संख्या	पृष्ठसंख्या
योजनलक्षप्रमितं कमलम्............................	३५	७७
र		
रेफकलाबिन्दभिरानद्धम्	३८	७८
व		
विषयपिशाचासंगंमुंच	१३	७०
व्योमाकारं पुरुषमरूपम्..............................	६२	८५
विरम विरम बाह्यादिपदार्थे.........................	६८	८८
वैराग्यमणिमालेयम्.....................................	प्र१	६६
श		
शरदिंदोर्निर्गच्छन्तं संतम्	५०	८२
शरणमशरणं भावय सततम्.......................	८	६८
शिवहंसीसंगमस स्नेहम्..............................	५९	८५
शुद्धरूपचिन्मयचित्पिंडम्.............................	५५	८४
शोकवियोगभयैः संभरितम्..........................	२०	७२
श्रुतैशवलनीसुरगिरिविधुरम्	६१	८५
स		
सप्तधातुमयपुद्गलपिडः	१७	७१
सावाधि वस्तुपरित्यजनं यत्	२६	७४
संसाराब्धौ कालमनंतम्	१५	७१
सोमदेवसूरेरुपदेशः.....................................	५२	८३
ह		
हृदयादानीय च नाभिं प्रति.......................	३०	७५
ज्ञ		
ज्ञानार्णवकल्लोलकलापे	५७	८४

।।नमः श्री वर्धमानाय।।

श्री पूज्यपादस्वामिविरचित

समाधि-शतक

—⬥○⬥○⬥○⬥—

मंगलाचरण

येनात्मावबुध्यतात्मैव, परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयाऽनन्तबोधाय, तस्मै सिद्धात्मने नमः।।१।।

अन्वय - येन आत्मा आत्मा एव च अपरं परत्वेन एव अवबुध्यते तस्मै अक्षयानन्तबोधाय सिद्धात्मने नमः।

अर्थ - जिसने आत्मा को आत्मा ही जाना है और पर को पर रूप से ही जाना है ऐसे उस अविनश्वर व अनन्तज्ञान वाले सिद्ध परमेष्ठी के लिए नमस्कार होओ।।१।।

श्री अरहन्त परमेष्ठी को नमस्कार :-

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती।
विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे।
जिनाय तस्मै सकलात्ममे नमः।।२।।

अन्वय - अवदतः अपि अनीहितुः अपि यस्य तीर्थकृतः भारती विभूतयः जयन्ति, तस्मै शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय सकलात्मने नमः अस्तु।

अर्थ - तालु, ओष्ठ आदि के द्वारा वचन को उच्चारण नहीं करते हुए तथा जगत

के हित की इच्छा न रखते हुए भी, जिस तीर्थंकर भगवान की वाणी ओर समवशरणादि रूपी विभूतियां जय को प्राप्त होती है, ऐसे उस कल्याण रूप, असि, मसि, कृषि आदि के उपदेश द्वारा जगत का उद्धार करने वाले, अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करने वाले, केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों में व्यापने वाले और घातिय कर्मों को जीतने वाले, दिव्य शरीरधारी परमात्मा के लिए नमस्कार होओ।

ग्रन्थ बनाने की प्रतिज्ञाः-

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्तिः समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां, विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये।।३।।

अन्वय - विविक्तं आत्मानं, श्रुतेन लिंगेन समाहितांतःकरणेन सम्यक् समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां यथात्मशक्तिः अभिधास्ये।

अर्थ - कर्म मल रहित आत्मा के स्वरूप को, शास्त्र रूपी लिंग व एकाग्र मन के द्वारा सम्यक् प्रकार जानकर, सकल कर्म के अभाव रूप कैवल्प पद और अनंत सुख की इच्छा रखने वालों के लिए अपनी ज्ञान शक्ति को न छिपाते हुए कहूंगा।

आत्मा के भेद :-

बहिरन्तः परश्चेति, त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं, मध्योपायाब्दहिस्त्यजेत्।।४।।

अन्वय - सर्व देहिषु बहिः अंतः चपरः इति त्रिधा आत्मा, तत्र मध्योपायात् बहिः त्यजेत् परमं उपेयात्।

अर्थ - सर्व जीवों में बाहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा इस प्रकार आत्मा की तीन अवस्था होती हैं। उनमें से अन्तरात्मा अवस्या को साधन योग्य मानकर, बाहिरात्मा अवस्था को छोड़ना चाहिये और परमात्म अवस्था को प्राप्त करना चाहिये।

भावार्थ - प्रत्येक संसारी जीव मिथ्यात्व अवस्था में बहिरात्मा, सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर अंतरात्मा, केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने पर परमात्मा हो सकता है। अभव्य जीवों में भी अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था शक्ति रूप से हैं परन्तु अभव्यों में इन दोनों अवस्थाओं के व्यक्त होने की योग्यता नहीं है। यदि ऐसा न माना जायगा तो फिर अभव्यों में केवलज्ञानावरणीयकर्म का बन्ध व्यर्थ हो जायगा। सर्वज्ञ में भी भूत-प्रज्ञापननय की अपेक्षा बहिरात्मावस्था व अंतरात्मावस्था

सिद्ध होती है। इन तीनों अवस्ताओं में से जिन संसारी जीवों के बहिरात्मावस्था व्यक्त हो रही है उनको प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्तकर बहिरात्मावस्था को त्याग अपनी अन्तरायत्मावस्था व्यक्त करनी चाहिये।

प्रत्येक अवस्था का लक्षण :-

बहिरात्मा शरीरादौ, जातात्मभ्रंन्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः, परमात्मातिनिर्मलः।।५।।

अन्वय - शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा, चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः आन्तरः, अतिनिर्मलः परमात्मा अस्ति।

अर्थ - शरीर, वचन व मन में, जिसको आत्मा का भ्रम उत्पन्न होरहा है, वह बहिरात्मा है, जिसको चित के विकल्प-रागादिक दोष-व आत्मा के स्वरूप के विषय में कुछ भी भ्रान्ति अर्थात् अज्ञान नहीं है वह अन्तरात्मा है और जिसकी आत्मा अत्यन्त निर्मल होगई है वह परमात्मा है।

परमात्मा वाचक नाम :-

निर्मलः केवलः शुद्धो, विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति, परमात्मेश्वरो जिनः।।६।।

अन्वयार्थ - (निर्मलः) कर्मरहित, (केवलः) शरीरादि संम्बन्ध रहित, (शुद्धः) द्रव्य भाव व कर्म के नाश होजाने से परम विशुद्धता युक्त, (विविक्तः) शरीर और कर्म दोनों से रहित, (प्रभुः) इन्द्रादिक का स्वामी, (अव्ययः) प्राप्त हुए अनन्त चतुष्टय से च्युत नहीं होनेवाला, (परमेष्ठी) इन्द्रादिक के द्वारा वन्दनीक परमपद में स्थित रहने वाला, (परमात्मा) संसारी जीवों से जिसका आत्मा उत्कृष्ट है, (ईश्वरः) जो अन्तरंग (अनन्त चतुष्टय) और बाह्य (समवशरणादि) ऐश्वर्य से युक्त है, (जिनः) कर्मो को जीतने वाला, (इति परमात्मा) इस प्रकार बहुत से परमात्मा के वाचक शब्द हैं।

बहिरात्मा की शरीरदिक में आत्म बुद्धि होने का हेतु :-

बहिरात्मेन्द्रियद्वारै, रात्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फूरितश्चात्मनोदेह, मात्मत्वेनाध्यवस्यति।।७।।

अन्वय - इन्द्रियद्वारैः ``बहिरर्थग्रहणे'' स्फुरितः बहिरात्मा आत्मज्ञानपराङ्मुखो ``भवति''

``ततएव'' च आत्मनः देहं आत्मत्वेन अध्यवस्यति''।

अर्थ - इंद्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थो को ग्रहण करने में ही लगे रहने के कारण यह बहिरात्मा आत्मज्ञान से पराङ्मुख रहता है और इसीलिये अपने शरीर को आत्मा समझता है।

आत्मा में मनुष्यादिक की कल्पना :-

नरदेहस्थमात्मान, मविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यञ्चं तिर्यङ्गस्थं, सुराङ्गस्थं सुरं तथा।।८।।
नारकं नारकांगस्थं, न स्वयं तत्वतस्तथा।
अनन्तानन्तधीशक्तिः, स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः।।९।।

अन्वय - अविद्वान, नरदेहस्थं आत्मानं नरं, तिर्यङ्गस्थं तिर्यञ्चं, तथ सुराङ्गस्थं सुरंमन्यते, एवमेव नारकाङ्गस्थं आत्मानं नारकं मन्यते, तत्त्वतः स्वयं तथा न अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्यः अचलस्थितिः अस्ति।

अर्थ - बहिरात्मा, मनुष्य के शरीर में स्थित आत्मा को मनुष्य और तिर्यञ्च के शरीर में स्थित आत्मा को तिर्यञ्च तथा देव के शरीर में स्थित आत्मा को देव मानता है। इसी प्रकार नारकी के शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है, परंतु यह आत्मा परमार्थ से स्वयं वैसा नहीं है।

अर्थात् - मनुष्यगति, मनुष्यआयु आदि कर्मो के उदय के निमित्त से ही जीवों में मनुष्य तिर्यञ्च आदि का व्यवहार होता है वास्तव में यह जीव स्वयं मनुष्यादि रूप नहीं है किंतु परमार्थ से यह तो अनन्तानन्तज्ञानवाला अनन्तानन्तबलवाला तथा अपने द्वारा ही जानने योग्य और अपने स्वरूप में ही निश्चल स्थित रहने वाला है।

पर के शरीर में परात्म बुद्धि :-

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा, परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः, परत्वेनाऽध्यवस्यति।।१०।।

अन्वय - मूढः, स्वदेहसदृशं परात्माधिष्ठितं अचेतनं परदेहं दृष्ट्वा परत्वेन अध्यवस्यति।

अर्थ - बहिरात्मा अपने शरीर के समान दूसरों की आत्मा से युक्त दूसरों के अचेतन शरीर को भी दूसरों का आत्मा समझता है अर्थात् बहिरात्मा जैसे अपने शरीरको अपना आत्मा मानता है उसी प्रकार स्त्री पुत्रादिक के शरीरको स्त्री पुत्रादिक का आत्मा मानता है।

ऐसा मानने क्या होता है :-

स्वपराध्यवसायेन, देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्त्तते विभ्रमः पुंसां, पुत्रभार्यादिगोचरः।।११।।

अन्वय - अविदितात्मनां पुंसां देहेषु स्वपराध्यवसायेन पुत्रभार्यादि गोचरः वर्त्तते।

अर्थ - आत्मस्वरूप को नहीं जानने वाले पुरुषों को अपने और परके शरीर में ही अपनी और पर की आत्मा के निश्चय होने से पुत्र स्त्री आदि के विषय में विभ्रम होता है। अर्थात् मूढ़ जीव अपने शरीर के साथ स्त्री पुत्रादि के शरीर के सम्बन्ध को ही अपनी आत्मा का सम्बन्ध समझता है और इसीलिये उनको अपना उपकारक समझता है तथा उनके संयोग में सुखी व वियोग में दुःखी होता है।

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो, जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते।।१२।।

अन्वय - तस्मात् अविद्यासंज्ञितः दृढ़ संस्कारः जायते, येन लोकः अंगं एव पुनः अपि स्वं अभिमन्यते।

अर्थ - उस विभ्रम से अज्ञानात्मक दृढ़ संस्कारः उत्पन्न हो जाता है जिससे यह संसारी जीव अपने शरीर को परलोक में भी अपना आत्मा मानता है। अर्थात् शरीर को आत्मा मानने का यह मिथ्या संस्कार परलोक में भी आत्मा के साथ जाता है।

देहेस्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मेन्यवात्मधीस्तस्माद्वियोजयतिदेहिनम्।।१३।।

अन्वय - देहे स्वबुद्धिः निश्चयात् आत्मानं एतेन युनक्ति स्वात्मनि एव आत्मधीः तस्मात् देहिंन वियोजयति।

अर्थ - शरीर में आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा, निश्चय से अपनी आत्मा का शरीर से सम्बन्ध कराता है और अपनी आत्मा में ही आत्मबुद्धि रखने वाला सम्यक्दृष्टि अन्तरात्मा, अपनी आत्मा को शरीर से पृथक करता है। अर्थात् शरीर को आत्मा मानने से आत्मा के नवीन नवीन शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है जिसके कारण यह मूढ़ जीव निरंतर संसार में रुलता है और जब शरीरादि से ममत्व छूट कर आत्मा में ही आत्म बुद्धि उत्पन्न हो जाती है तब यह जीव सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हो जाता है और ध्यानादिक का सतत

अभ्यास करके शरीरादिक सम्बन्ध छुडाकर अपने आत्मा को मुक्त कर लेता है।

शरीर को आत्मा मानने वाले पर करुणाभाव :-

देहेष्वात्माधिया जाता पुत्रभार्यादिकल्पना।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हंत जगत्।।१४।।

अन्वय - देहेषु आत्मधिया पुत्रभार्यादि कल्पना जाता, हा ! हतं जगत् ताभिः आत्मनः सम्पतिं मन्यते।

अर्थ - शरीर में आत्म बुद्धि होने से पुत्र, स्त्री आदिक की कल्पना होती है, खेद है कि इस प्रकार मोह से अपने असली आनन्द को भूल कर यह मूढ़ जीव स्त्री पुत्रादिक के द्वारा ही अपने को समृद्धिशाली मानता है। अर्थात् जब तक इस संसारी जीव को मिथ्यात्व के उदय से अनन्त चतुष्टयरूपी सम्पत्ति का ज्ञान नही होता तब तक यह स्त्री, पुत्र धन, धान्यादिक बाह्यपदार्थों को ही अपने मान कर उनमें रमा रहता है और मिथ्या अहंकार वश दुःख मानता रहता है।

बहिरात्मा को अन्तरात्मा होने की शिक्षा :-

मूलं संसारदुःखस्य, देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः।।१५।।

अन्वय - देहे आत्मधीः एव संसारदुःखस्य मूलम्, ततः एनां त्यक्त्वा बहिः अव्यापृतेन्द्रियः अन्तः प्रविशेत्।

अर्थ - शरीर में आत्मबुद्धि का होना की संसार के दुःखों का मूल कारण है इसलिये शरीर में आत्म बुद्धि को छोड़ कर और इंद्रियों को बाह्य विषयों से रोककर अन्तरंग में प्रवेश करना चाहये।

भावार्थ - जितने भी संसार के प्रपंच है वे सब इस शरीर के साथ हैं। जब तक जीव इस शरीर को अपना मानता रहेगा तब तक वह संसार के दुःखदाई जंजाल से कभी नहीं छूट सकता। इसी कारण इस अपूर्व ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने समस्त दुःखो की जड़ जो शरीर में आत्मबुद्धि का होना है उसके छुड़ाने के लिये ही अधिक जोर दिया है।

अन्तरात्मा के विचार :-

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः, पतितो विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याहमिति मां, पुरा वेद न तत्त्वतः।।१६।।

अन्वय - अहं पुरा मत्तः च्युत्वा इन्द्रियद्वारैः विषयेषु पतितः तान् अहं इति प्रपद्य तत्त्वतः मां न वेद।

अर्थ - अन्तरात्मा अपनी पहली अवस्था को विचारता है कि मैं अनादिकाल से अब तक व्यर्थ ही अपने स्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियों के द्वारा विषय कूप में पड़ा रहा औंर उन विषयों को ही अपना स्वरूप समझ कर वास्तव में अपनी आत्मा को आज तक मैंने नहीं पहिचाना।

भावार्थ - जब तक जीव को अपनी असली रत्नत्रय रूप व अनंत चतुष्टय रूप समपत्ति का परिज्ञान नहीं होता तब तक वह बाह्य विषयों को सुखदायक समझता है और जब इसे अपने असली सुधारस का कुछ भी स्वाद आ जाता है दब बाह्य विषय उसे विष सरीखे मालूम पड़ने लगते है। इसी कारण जो जीव प्रथम विषय भोगों को सुख रूप मान कर सेवन करता था वही अब पहले भोगे हुए विषयों पर भी पश्चात्ताप करने लगता है।

आत्मज्ञान का उपाय :-

एवं त्यकत्वा बहिर्वाचं, त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन, प्रदीपः परमात्मनः।।१७।।

अन्वय - एवं बहिर्वाचं त्यक्त्वा अन्तः अशेषतः त्यजेत् एषः समासेन योगः परमात्मनः प्रदीपः।

अर्थ - आगे के श्लोकों में कही जाने वाली रीतिके अनुसार बाह्य वचन को छोडकर अर्थात् ``स्त्री, पुत्र, धन धान्यादिक मेरे हैं'' इस प्रकार के मिथ्या प्रलाप को त्याग कर, अन्तरंग वचन को भी पूर्ण रूप से छोड़ना चाहिये, अर्थात् मैं सुखी हूं, दुखी हूं, दूसरों का गुरु हूं, शिष्य हूं, इस प्रकार के आत्मविषयक मिथ्या विकल्प रूप अंतरंग वचन को भी छोडना चाहिये। यह, संक्षेप से कही हुई-बाह्य व अभ्यन्तर के वचन के त्याग रूप-चित्त को विषयों से रोकने वाली, समाधि ही वास्तव में परमात्मस्वरूप को प्रकाशने के लिये दीपक केसमान है।

बाह्य वचन को छोड़ने का उपाय :-

यन्मया दृश्यते रूपं, तन्न जानाति सवर्था।
जानन्न दृश्यते रूपं, ततः केन ब्रवीम्यहम्।।१८।।

अन्वय - मया यत् दृश्यते, तत् सर्वया न जानाति, जानत् रूपं दृश्यते न, ततः अहं केन ब्रवीमि।

अर्थ - इन्द्रियों के द्वारा मुझे जो शरीरादिक रूपी पदार्थ दिखाई देते हैं, वे किसी भी पदार्थ को बिल्कुल नहीं जानते और जो पदार्थों को जानने वाला चेतनद्रव्य आत्मा है, वह मुझे इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता इसलिये मैं बातचीत करूं तो किससे करूं।

भावार्थ - जो अपने अभिप्राय को समझे, उसी के साथ बात चीत की जा सकती है, लकड़ी पत्थर आदि जड़ पदार्थों से कोई बचन व्यवहार नहीं करता, इस बात को लेकर अन्तरात्मा अपने मन को समझाता है कि दूसरों का आत्मा तो मुझे दिखाई देता ही नहीं और शरीर दिखाई देता है। वह कुछ जानता नहीं, फिर मैं शरीरादिक जड़ पदार्थो से क्या बात करूं ? अर्थात् मुभ्क को चुप चाप रहना ही उचित है ग्रन्थकार ने इस श्लोक में वचन गुप्ति पालने का और बाह्य झंझटों से छूटने का एक उत्तम उपाय बताया है।

अंतरंग वचन को छोड़ने का स्वरूप :-

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं, यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे, यदहं निर्विकल्पकः।।१९।।

अन्वय - अहंपरैः प्रतिपाद्यः यत् परान् प्रतिपादये तत् मे उन्मत्तचेष्टिंत, यत् अहं निर्विकल्पकः।

अर्थ - मैं अध्यापकों से पढने योग्य हूं, इसी प्रकार और भी मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, राजा हूं, रंक हुं, इत्यादि अनेक प्रकार के जो आत्म विषयक विकल्पों का करना है, वह सब मेरी पागलों सरीखी चेष्टा है क्यों कि मैं तो वास्तव में निर्विकल्पक हूं।

भावार्थ - जीव का असली स्वरूप, इन अनेक प्रकार के वचन विकल्पों के गोचर वास्तव में न होने पर भी, जो यह मूढ़ जीव भ्रम वश, सुखी-दुखी, राजा-रंक, गुरू शिष्य आदि की अनेक मिथ्या कल्पनायें हैं, वे आत्मा के लिये अत्यन्त दुखदाई हैं, इसलिये अपनी आत्मा को वास्तव में इन विकल्पों से रहित समझकर इन विकल्पो को छोडना चाहिये।

विकल्प रहित आत्मा का असली स्वरूप :-

यदग्रांह्य न गृह्णाति, गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं, तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्।।२०।।

अन्वय - यत अग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं न अपि मुञ्चति, सर्वम् सर्वथा जानाति अहं तत स्वसंवेधं अस्मि।

अर्थ - जो शुद्ध आत्मा, अग्राह्य रागद्वेषादिक, को तो ग्रहण नही करता और ग्रहण किये हुए केवलज्ञानादिक का त्याग नहीं करता किन्तु सम्पूर्ण पदार्थों को सर्व प्रकार से जानता है, वही मैं अपने द्वारा ही अनुभव में आने योग्य चेतन द्रव्य हूं।

भावार्थ - जब तक यह आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख, अनंत वीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व क्षायिकचारित्र आदि अपने असली गुणों को विकसित न करके रागी द्वेषी बना रहता हैं तब तक यह अशुद्ध कहलाता है और जब राग द्वेषादि विभावों को छोड़कर अपने असली गुणों को प्राप्त कर लेता है तब संपूर्ण पदार्थों का केवलज्ञातामात्र रह जाता है बाह्य पदार्थों वा अपने रागादिक विकारों का कर्त्ता भोक्ता नहीं रहता, और यही जीव का असली स्वरूप है।

आत्मज्ञान होने से पूर्व की चेष्टा :-

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात्।।२१।।

अन्वय - स्थाणी उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः यद्वत् विचेष्टितम् देहादिषु आत्मविभ्रमात् मे पूर्वं तद्वत् चेष्टितम् आसीत्।

अर्थ - स्थाणु में पुरुष की भ्रान्ति करने वाले मनुष्य की जैसी चेष्टा होती है शरीरादिक में आत्मा का भ्रम रहने से, मेरी पहले शरीरादिक के विषय में वैसी ही चेष्टा थी।

भावार्थ - जैसे कोई पुरुष भ्रम से, वृक्ष के ठूंठ को मनुष्य मान कर उसके उपकारादि करने का विचार करने लगत्ता है, उसी प्रकार मैं भी भ्रम से, पहले शरीरादिक को आत्मा मान कर उनके उपकारादिक में लगा हुआ था।

आत्म ज्ञान होने के बाद की चेष्टा :-

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ, निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ, विनिवृतात्मविभ्रमः।।२२।।

अन्वय - असौ स्थाणौ पुरुषाग्रहे निवृत्ते यथा चेष्टते, देहादों विनिवृत्तात्मविभ्रमः तथाचेष्टः अस्मि।

अर्थ - यह मनुष्य स्थाणु में पुरुष का भ्रम दूर होने पर जिस प्रकार उपकारादि के त्याग की चेष्टा करता है शरीरादि में आत्म-भ्रम दूर होने पर मैं भी उसी प्रकार चेष्टा करने लगा हूं।

भावार्थ - जब स्थाणु को स्थाणु पहिचान कर उसमें से पुरुष विषयक अज्ञान दूर हो जाता है तब वह ज्ञानी मनुष्य उसके विषय में उपकारादिक की कल्पना भी छोड देता है क्योंकि उपकार करने का विचार स्थाणु को पुरुष मान कर हुआ था बाद में निश्चय होने पर वह पुरुष निकला नहीं, तब उपकार किसका किया जाता, इसी तरह इस जीव को जव सम्यक्त्व हो जाने से शरीरादि में आत्मःभ्रम नहीं रहता तब वह हृदय से शरीर के संस्कारादि करने में भी उपेक्षा करने लगता है।

शुद्ध आत्मामें स्त्री आदि लिंग और एकत्व आदि संख्या नहीं है :-

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तत्र सा नासौ, नैको न द्वौ न वा बहुः।।२३।।

अन्वय - येन आत्मना आत्मना आत्मनि एव आत्मना अहं अनुभूये, सोऽहं, न तत्, न सा, न असौ, न एकः, न द्वौ, वा न बहुः।

अर्थ - जो मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा अपनी आत्मा में ही अपने स्वसंवेदन ज्ञान करके अपनी आत्मा को अनुभव करता हूं वह शुद्ध स्वरूप मैं आत्मा, न तो नपुंसक हूं, न स्त्री हुं न पुरुष हूं, न एक रूप हूं, न दो रूप हूं, न बहु रूप हूं।

भावार्थ - जीव में स्त्री पुरुष आदिक का व्यवहार केवल शरीर के सम्बन्ध को लेकर होता है और एकपने दोपने बहुपने का व्यवहार गुण-गुणी की भेदाभेद विवक्षा को लेकर होता है। शुद्ध आत्मा के अनुभव की दशा में न शरीर की कल्पना है और न भेदा-भेद की विवक्षा है वहां तो केवल यह आत्मा अपने ज्ञानानन्द रस का परम तृप्ति के साथ

पान करता रहता है, इसलिये वहां ये बाह्य कल्पना नहीं उठतों।

शुद्ध आत्मा का स्वरूप :-

यदभावे सुषुप्तोऽहं, यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्य, तत्स्वसवेद्यमस्म्यहम्।।२४।।

अन्वय - यदभावे अहं सुषुप्तः पुनः यद्भावे व्युत्थितः अहं तत् अस्मि ``तच्च'' अतीन्द्रियं अनिर्देश्यं, स्वसंवेद्यं।

अर्थ - जिस शुद्ध आत्मस्वरूप के प्राप्त होने से मैं अब तक सोता रहा और अब जिसके प्राप्त होनेसे जाग गया हूं मैं उसी शुद्ध स्वरूप वाला हूं और वह शुद्ध स्वरूप न इंद्रियों से जानने योग्य है, और न बचन से कहने योग्य है किन्तु अपने आप ही अनुभव में आने योग्य है।

भावार्थ - जब तक इस जीव को अपने शुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती तब तक यह एक प्रकार की अज्ञान निद्रा में पड़ा रहता है, ओर जब अज्ञान का नाश होकर शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है तभी यह वास्तव में जागता हुवा कहलाता है।

शुद्धात्मस्वरूप का संवेदन करनेवाले की आत्मा में रागा-दिक का अभाव हो जाने से शुत्र-मित्र की कल्पना नहीं रहती अब इस बात को दिखाते हैं :-

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो भां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः।।२५।।

अन्वय - तत्त्वतः बोधात्मानं मां प्रवश्यतः ``मम'' अत्र एव रागाद्याः क्षीयन्ते ततः न मे कश्चित् शुत्रः न च प्रियः।

अर्थ - वास्त्व में शुद्ध ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा का अनुभव करने लगने से इसी जन्म में रागद्वेष आदि नष्ट हो जाते हैं।

इसलिये न कोई मित्र मालूम पड़ता है और न कोई शत्रु दिखाई देता है।

भावार्थ - जब तक इस जीव को अपने चिदानन्दमय सुधा रस का स्वाद नहीं आता तब तक यह वाह्य पदार्थों को अपनी रागद्वेषादि रूपी अग्नि के शमन करने का उपाय समझ, उनकी प्राप्ति के लिये भटकता फिरता रहता है, और अनुकूल सामग्री के बाधक-

साधक जीवों को शत्रु-मित्र मानता रहता है, और जब इसको अपने स्वाभाविक सुधारस का स्वाद आने लगता है तब बाह्य पदार्थों में व उनके साधक-बाधक जीवों में इसकी उपेक्षा बुद्धि हो जाती है। इस कारण उस समय यह न तो किसी को मित्र समझता है और न शत्रु मानता है, क्योंकि मित्र की कल्पना राग-द्वेष के कारण होती है और उपेक्षा होजाने से राग-द्वेष बाह्य पदार्थों में उसके रहते नहीं।

किसी ने यह प्रश्न किया कि यद्यपि ऐसी दशा में तुम्हारा कोई शुत्र-मित्र नहीं रहता, किंतु तुमको दूसरे पुरुष तो शुत्र-मित्र मान सकते हैं ? इसका उत्तर स्वात्मसंवेदन वाला इस प्रकार देता है :-

मामपश्यन्नयं लोको, न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको, न मे शत्रुर्न च प्रियः।।२६।।

अन्वय - मां अपश्यन् अयं लोकः न मे शत्रुः न च प्रियः मां प्रपश्यन् अयं लोकः न मे शत्रुः न च प्रियः।

अर्थ - मेरे स्वरूप को बिना जाने यह जगत् मुझे शत्रु अथवा मित्र नहीं मान सकता और मेरे स्वरूप को जान कर भी यह जगत मुझे शत्रु वा मित्र नहीं मान सकता।

भावार्थ - स्वात्मसंवेदी का यह कहना है कि परिचित व्यक्ति में ही शत्रु वा मित्र की कल्पना हुआ करती है, अपरिचित में नहीं होती, इसलिये प्रथम तो ये संसारी जीव मेरे स्वरूप को जानते ही नहीं तब फिर मुझ में ये शत्रु मित्र की कल्पना ही क्या कर सकते हैं और कदाचित यह माना जाय कि जानते हैं तो भी इनको शुद्दात्मस्वरूप का अनुभव हो जाने से मेरे में उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो जायगी, तब भी ये मुझ में शत्रु मित्र की कल्पना नहीं कर सकेंगे।

बहिरात्मावस्था का त्याग और परमात्म पद की भावना का उपदेशा :-

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम्।।२७।।

अन्वय - एवं बहिरात्मानं त्यक्त्वा अन्तरात्मव्यवस्थितः सर्व संकल्पवर्जितं परमात्मानं भावयेत्।

अर्थ - इस प्रकार पूर्व लिखे क्रमानुसार बहिरात्मपने का त्याग करके अन्तरात्मा बनना चाहिये और सब प्रकार के संकल्प विकल्पों से रहित परमात्मपद की प्राप्ति के लिये भावना

करनी चाहिये।

परमात्मपद की भावना का फल

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मंनि स्थितिम्।।२८।।

अन्वय - पुनः तस्मिन् भावनया सः अहं इति आत्तसंस्कारः तत्र एव दृढ़संस्कारात् हि आत्मनि स्थितिं लभते।

अर्थ - वार २ परमात्मपद की भावना करते रहने से ``वह परमात्मा मैं ही हूं'' इस प्रकार का दृढ़ संस्कार आत्मा में उत्पन्न होजाता है और परमात्म स्वरूप का दृढ़ संस्कार उत्पन्न होने से यह जीव निश्चय से अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर होजाता है।

भावार्थ - उक्त प्रकार की दृढ भावना के अभ्यास से जब इस जीव की परमात्मपद के साथ एकत्वबुद्धि हो जाती है तब यह जीव अपने को केवलज्ञानमयी व अनंतसुखसम्पन्न समझने लगता है, और जब यह अपने को सर्वज्ञ व अनंतसुखी मानने लगता है, तब छोटे-मोटे काल्पनिकसुख के कारणभूत वाह्य पदार्थों से इसका ममत्व स्वयं ही छूट जाता है जिसके कारण इसके राग द्वेष मंद होते २ नष्ट हो जाते हैं और इसको परमात्मपद की प्राप्ति हो जाती है।

यहां किसी का प्रश्न है कि परमात्मा की भावना करना तो बड़ा कठिन है तब फिर जीवों की परमात्म-भावना में प्रवृत्ति क्यों होती है ? इसका उत्तर रूप श्लोक कहते हैं।

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः।।२९।।

अन्वय - मूढात्मा यत्र विश्वस्तः ततः अन्यद् भयास्पदं न, यतः भीतः अन्यद् अभयस्थानं आत्मनः न।

अर्थ - यह मूढ़ जीव, जिन शरीर स्त्री पुत्रादिक बाह्य पदार्थों का विश्वास करता है, वे ही सबसे अधिक इसके लिये दुःख के कारण है इनके समान और कोई इसके लिये दुःखदाई नहीं है और जिस परमात्म स्वरूप के संवेदन करने में यह जीव भय करता है, दुःख मानता है, उसके समान और कोई पदार्थ आत्मा के लिये सुखदाई नहीं है।

भावार्थ - जिस प्रकार सर्प से काटे हुए पुरुष को कडुवा नीम भी स्वादिष्ट मालूम

देता है, उसी तरह विषय कषायो में फंसे हुये पुरुष को शरीरादिक वाह्य पदार्थ मनोहर दिखाई देते हैं और जैसे ज्वर की बीमारी में उत्तम मिठाई भी अरुचिकर मालूम होती है उसी तरह मूढ़ जीवको परमात्मा का अनुभव करने में भी कष्ट मालूम देता है, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो परमात्मानुभव के समान सुखदाई और कोई नहीं है। क्योंकि यह जीव अनादिकाल से अब तक शरीरादिकको आत्मा मानकर तथा परमात्मा का स्वरूप न पहिचान कर ही दुःख भोग रहा है।

परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य, स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति, तत्तत्वं परमात्मनः।।३०।।

अन्वय - सर्वोन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेन अन्तरात्मा क्षणं पश्यतो यत् भाति तत् परमात्मतः तत्त्वम्।

अर्थ - सम्पूर्ण इंद्रियों को अपने २ विषयों से रोककर स्थिर मन के द्वारा अनुभव करने से जो चिदानन्दमय आत्मस्वरूप प्रतिभास में आता है, वही परमात्मा का असली स्वरूप है।

भावार्थ - परमात्मपद की प्राप्ति के लिये इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोकना चाहिये और मन को परमात्मस्वरूप की भावना में तन्मय करना चाहिये।

परमात्मपद की प्राप्ति के लिये किसकी उपासना करना चाहिये :-

यः परात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः
अहमेव मयोपास्यो, नान्यः करिचदिति स्थितिः।।३१।।

अन्वय - यः परात्मा, स एव अहं, यः अहं स परमः, ततः अहं एव मया उपास्यः, अन्यः कश्चित् न इति स्थितिः।

अर्थ - जो परमात्मा है वही मैं हूं, अथवा जो मैं हूं, वही परमात्मा है इसलिये मैं ही अपने द्वारा उपासना करने योग्य हूं अन्य कोई मेरे द्वारा उपास्य नहीं है।

भावार्थ - सिद्ध परमेष्ठी के समान अपनी आत्मा को भी शुद्ध बुद्ध मानकर जब यह अन्तरात्मा का भेद, भावना करते २ अपने शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाता है तभी परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है इसलिये मुक्त-पद प्राप्त करने के लिये निश्चयनय से ध्यान करने योग्य या उपासना करने योग्य अपना शुद्धात्मा ही समझना चाहिये।

इसी बात को दिखाते हैं :-

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं, मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि, परमानंदनिर्वृतम्।।३२।।

अन्वय - अहं मयि स्थितं बोधात्मानं परमानंदनिर्वृतं मां विषयेभ्यः प्रच्याव्य मया एव प्रपन्नोऽस्मि।

अर्थ - मैंने अपने में ही विराजमान ज्ञान स्वरूप व परमानंदसम्पन्न अपने आत्मा की विषयों से छुड़ाकर अपने आपही प्राप्त किया है।

भावार्थ - जिस परमात्मपद या मुक्तिपद को जीव प्राप्त करना चाहता है, वह परमात्मपद शक्ति रूप से इस आत्मा में ही है और उसके उद्योग से ही इसको प्राप्त हो सकता है। किसी ईश्वर आदि के पास वह संग्रह रूप से मौजूद नहीं है जिसको कि वह प्रसन्न होकर अपने सेवकों को दे सके। दूसरे, परमात्माओं से हम केवल इस विषय में यही लाभ उठा सकते हैं कि अरहंत (जीवनमुक्त) अवस्था में दिये हुए परमात्म पद के साधनभूत उनके उपदेश का मनन करे और जिस ध्यान मुद्रा से उन्होंने परमात्म पद प्राप्त किया है उस दिव्य देह का या उसके प्रतिबिम्ब का चित्र अपने हृदय पर अंकित करे। बाद में अपनी भी उसी प्रकार की ध्यान मुद्रा बनाकर तथा उनके बताये हुए साधनों को उपयोग में लाकर स्वयं परमात्मपद प्राप्त करे।

आत्मा को शरीर से भिन्न न जानने से हानि :-

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं, तप्त्वाऽपि परमं तपः।।३३।।

अन्वय - एवं यः अव्ययं आत्मानं देहात् देहात् परं न वेत्ति, सः परमं तपः तप्त्वा अपि निर्वाणं न लभते।

अर्थ - इस पूर्वोक्त कथनानुसार जो पुरुष अपने अविनश्वर आत्मा को शरीर से भिन्न नही मानता है वह उग्र तप, तप कर भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थ - जोपुरुष आत्मा के असली स्वरूप को न जान कर इस नश्वर शरीर को ही आत्मा मान रहा है वह मुक्ति को भी अन्य बाह्य पादार्थों की तरह विषय-सुख का साधन समझ कर यदि उसकी प्राप्ति के लिये कठिन से कठिन तप भी करे तो क्या उसको मुक्ति मिल सकती है ? अर्थात् उसे मुक्ति नहीं मिल सकती।

शंकाः मुक्ति के लिये तो बड़े बड़े कठिन तप करने बताये हैं और कठिन तप करनेसे चित्त में खेद होता है तब फिर तप करने से मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? उत्तर :-

आत्मदेहीन्तरंज्ञानजनिताल्हानिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं, भुञ्जानोऽपि नखिद्यते।।३४।।

अन्वय - आत्मदेहान्तरंज्ञानजनिताऽल्हादनिर्वृत्तः तपसा घोरं दुष्कृतं भुञ्जानः अपि न खिद्यते।

अर्थ - जो पुरुष आत्मा और शरीर के भेद ज्ञान से उत्पन्न हुऐ आनन्द में मग्न होरहा है वह तप के द्वारा उदय में लाये हुए दुःखदाई से दुःखदाई कर्मो के फल को भोगते हुए भी दुःखी नहीं होता है।

भावार्थ - जिस समय इस जीव के अनुभव में आत्मा और शरीर भिन्न भिन्न दिखाई देने लगते हैं उस समय इसको समस्त चिंताएं दूर होजाती है क्योंकि जितने भर भी संसार के दुःख हैं वे सब शरीर को अपना जानने से ही होते हैं। भूख, प्यास, रोग, शोक व जीने मरने के दुःख, शत्रु सर्प आदि का भय, गर्मी सर्दी की बाधा, इन्द्रियों के विषय की चाह आदि अनेक भयंकर से भयंकर आपत्तियां इस जीव को शरीर के संबन्ध से ही उठानी पडती हैं, इसलिये जिस समय इस शरीर को भी यह आत्मा भिन्न समझ लेता है, उस समय इन सब आपत्तियों से छूट जाने के कारण इस जीव को एक अलौकिक आनन्द प्राप्त हो जाताहै और अपनी इस परसुखदायनी भेदभावना की दृढता के लिये उस दशा में यह जीव कायल्केशादितप तप करके, शरीर को जान जान कर कृश करता है और सफलता पाने पर आनन्द मानता है, इसी कारण उसे तप करते हए खेद नहीं होता।

इसी उपरि लिखित कथन की और पुष्टि :-

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः।।३५।।

अन्वय - राग द्वषादिकल्लोलैः यन्मनोजलं अलोलं स आत्मनः तत्त्वं पश्यति तत् तत्त्वं इतरः जनः न पश्यति।

अर्थ - रागद्वेष आदिक कल्लोलों से जिसका मन रूप जल चंचल नहीं हुआ है वही पुरुष आत्मा के स्वरूप को जान सकता है। इस आत्म-स्वरूप को रागद्वेषी पुरुष नहीं पहिचान

सकता।

भावार्थ - अनादि काल से यह जीव शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्म बुद्धि किये हुए है और ये बाह्य पदार्थ आत्मस्वरूप न होने के कारण कर्मानुसार बाह्य निमित्त को लेकर मिलते बिछुडते रहते है, और इसलिये जिस बाह्य निमित्त से अनुकूल विषयों की प्राप्ति होती है उसमें राग और जिसके निमित्त से इष्ट वस्तु का विच्छेद व प्रतिकूल वस्तु का संबंध होता है इससे यह जीव द्वेष करता रहता है और राग द्वेष रूपी अग्नि से निरंतर दग्ध रह कर अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को नहीं पहिचानता। इसलिये आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये राग द्वेष का नाश करना सबसे आवश्यक है। जो पुरुष इनका नाश कर देता है वह परमात्मपद पा सकता है जो नहीं करता वह नहीं पा सकता।

उस आत्मा का स्वरूप :-

अविक्षिप्तंमनस्तत्त्वं, विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं, विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः।।३६।।

अन्वय - अविक्षिप्तं मनः आत्मनः तत्त्वं, विक्षिप्तं भ्रान्तिः, ततः अविक्षिप्तं तत् धारयेत् विक्षिप्तं न आश्रयेत्।

अर्थ - अविक्षिप्त अर्थात् रागादिरहित देह व आत्मा के अभेद ज्ञान से शून्य व अपने शुद्ध स्वरूप में निश्चल जो मन है वही आत्मा का स्वरूप है। इसके विरूद्ध जो विक्षिप्त अर्थात् रागादि परिणत व देह आत्मा को एक जानने वाला जो भ्रांत मन है वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। इसलिये अविक्षिप्त मन को धारण करना चाहिये और विक्षिप्त मन का आश्रय नहीं करना चाहिये।

भावार्थ - उपयोग रूप जो भाव मन है वह ज्ञानात्मक होने से आत्मा का ही स्वरूप है। जिस समय वह ज्ञान स्वरूप भाव-मन रागादि रहित होकर शरीरादि बाह्य पदार्थों को आत्मा से भिन्न अनुभव करने लगता है तथा आत्म-ध्यान में तन्मय हो जाता है उस समय उसको आत्मा का निज स्वरूप समझना चाहिये और रागादि युक्त भाव मन को, ज्ञान स्वरूप होते हुए भी, विकारी होने के कारण, आत्मा का निज स्वरूप नहीं मानना चाहिये। यही कारण है कि श्लोक के उत्तरार्द्ध में मन से रागादि विक्षेपों को दूर कर उसे शुद्ध बनाने की प्रेरणा की है।

मन में विक्षेप क्यों होता है :-

अविद्याऽभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः, स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते।।३७।।

अन्वय - अविद्याभ्याससंस्कारैः मनः अवशं क्षिप्यते तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतः तत्त्वे अवतिष्ठते।

अर्थ - शरीरादिक को आत्मरूप जानने वाले अज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न हुये मलिन संस्कारों के द्वारा मन, आत्मा के वश में न रहकर विक्षेप को प्राप्त हो जाता है और वही मन, भेद ज्ञान से उत्पन्न हुये उत्तम संस्कारों के द्वारा स्वयं ही आत्मज्ञान में स्थिर हो जाता है।

विक्षेप वा अविक्षेप से क्या फल होता है :-

अपमानादयस्तस्य, विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य, न क्षेपो यस्य चेतसः।।३८।।

अन्वय - यस्य चेतसः विक्षेपः तस्य अपमानादयः, यस्य चेतसः क्षेपः न, तस्य अपमानादयः न।

अर्थ - जिसके मनमें विक्षेप होता है उसीके चित में मान- अपमान आदि की कल्पना होती है और जिसके मनमें विक्षेप नहीं होता उसका अपमानादि की तरफ ध्यान भी नहीं जाता।

भावार्थ - जब तक हमारे मनमें मान-अपमान से हर्ष-विषाद होता है तबतक समझना चाहिये कि राग-द्वेषादि कषायों ने हमारे मनको विक्षिप्त कर रक्खा है, और जब मान-अपमान आदि की कल्पना हृदय से निकल जातीहै उस समय इन विक्षेपों से उसको रहित मानना चाहिये।।३८।।

अपमानादिक के दूर करने का उपाय :-

यदा मोहात्प्रजायेते, राग-द्वेषौ तपास्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्।।३९।।

अन्वय - यदा तपस्विनः मोहात् रागद्वेषौ प्रजायेते, तदा एव स्वस्थं आत्मानं भावयेत्, क्षणात् शाम्यतः।

अर्थ - जिस समय किसी तपस्वी मुनि के हृदय में मोह के उदय से राग द्वेष उत्पन्न हो जावें उस समय उसको अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिये, इस प्रकार

बार २ आत्म-स्वरूप की भावना करने से ही राग द्वेष क्षण भर में शांत हो जावेंगे।

भावार्थ - राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादिक एक प्रकार के मानसिक रोग हैं जो कि अज्ञान के द्वारा शरीर, स्त्री, पुत्रादिकों को आत्मरूप मानने से तथा पंचेन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति-अप्राप्ति से उत्पन्न होते हैं, शुद्ध आत्मस्वरूप का चिंतवन करना ही इनको निर्मूल करने के लिये एक मात्र रामवाण औषधि है। इन रोगों का निदान (मूलकारण) आत्मस्वरूप का अज्ञान है। इसलिये इस अज्ञान का नाश किये बिना इन रोगों की जड़ नहीं जा सकती।

राग द्वेष का विषय व उनका विपक्ष दिखाते हैं :-

यत्र काये मुनेः प्रेम, ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्धया तदुत्तमे काये, याजयेत्प्रेम नश्यति।।४०।।

अन्वय - यत्र काये मुनेः प्रेम, बुद्धया ततः देहिनं प्रच्याव्य तत् उत्तमे काये योजयेत्, प्रेम नश्यति।

अर्थ - जिस शरीर में तथा इन्द्रियों के विषयों में मुनि का प्रेम है, अर्थात् आत्म बुद्धि हो रही है, विवेक ज्ञान के द्वारा उन शरीरादिकों से आत्मा को पृथक करके उस प्रेम को चिदानन्दमय उत्तम आत्मरूपी काय में लगाने से बाह्य विषयों का प्रेम नष्ट हो जाता है।

भावार्थ - जब तक इस जीव को अपने ज्ञानानंदमय परम मनोहर उपवन में क्रीड़ा करने का अवसर प्राप्त नहीं होता, तब तक यह अत्यन्त घृणित, स्त्री आदि के शरीर व अन्य पंचेन्द्रियों के विषयों में ही फँसा रहता है तथा अपने मल-मूत्र व अस्यि पंजर के पिंड रूप शरीरको ही बार २ देखकर प्रसन्न होता रहता है। यदि यह किसी प्रकार अपने दर्शन मोहादिक का उपशम करके अपने शांत सुधारस का एक बार भी स्वाद ले ले तो इसकी इन बाह्य विषयों में कदापि रुचि न रहे और बहुत काल तक इसे जगत-जाल में फँसना न पड़े।

इस भ्रमात्मक प्रेम के नाश होने से क्या होता हैं :-

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नायतास्तत्र निर्वान्ति, कृत्वाऽपिपरमं तपः।।४१।।

अन्वय - आत्मविभ्रमजं दुखं आत्मज्ञानात् प्रशाम्यति तत्र अयताः परमं तपः अपि कृत्वा

न निर्वान्ति।

अर्थ - शरीरादिक में आत्मा का भ्रम होने से जो दुःख होता है वह आत्मज्ञान होने से नष्ट हो जाता है। इसलिये जो पुरुष आत्म स्वरूप के ज्ञान प्राप्त करने में प्रयत्न नहीं करते वे दुर्धर तप को करके भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते।

भावार्थ - मुक्ति प्राप्ति के लिये आत्मज्ञान की प्राप्ति पूर्वक किया हुआ तप ही कार्यकारी है, इसके विरुद्ध आत्मा व उसमें उत्पन्न हुए रागादिक विकारों के वास्तविक स्वरूप को बिना जाने जो पुरुष ऊटपटांग पंचाग्नि आदिक तप किया करते हैं वे बुखार की बीमारी में बवासीर की दवाखाने वाले के समान बेवकूफ समझे जाते हैं।

शरीरादिक को आत्मा मानने वाला तप करके क्या फल चाहता है :-

शुभं शरीरं दिव्याँश्च, विषयानभिवाञ्छाते।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे, तत्वज्ञानी ततश्च्युतिम्।।४२।।

अन्वय - देहे उत्पन्नात्ममतिः शुभं शरीर च दिव्यान् विषयान् अभिवाञ्छति तत्वज्ञानी च्युतिम्

अर्थ - शरीर में जिसको आत्म बुद्धि हो रही है वह पुरुष तप करके देवों के सुन्दर शरीर को व स्वर्गों के दिव्य विषयों को ही चाहता है, और जो तत्त्वज्ञानी है वह ऐसे शरीर व विषयों से छूटना चाहता है।

भावार्थ - बहिरात्मा स्वर्गादिक के मिलने को ही परम पद की प्राप्ति समझता है इसलिये स्वर्गादिक की लालसा से ही पंचाग्नि आदि तप के द्वारा कायक्लेश करता है और जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान जाता है उसको स्वर्गों के विषय-भोग भी अन्य विषयों की तरह दुःखदाई मालूम पड़ते है इसलिये वह सम्यग्दृष्टि पुरुष उन स्वार्गादिक के विषयों की इच्छा न करके परमानन्दमय मोक्षपद की इच्छा रखता है।

किसको कर्म-बंध होता है और किसको नहीं होता :-

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा, परस्मान्मुच्यते बुधः।।४३।।

अन्वय - परत्र अहंमतिः स्वस्मात् च्युतः असंशयं बध्नाति स्वस्मिन् अहम्मतिः बुधः परस्मात् च्युत्वा मुच्यते।

अर्थ - जिसको शरीरादिक पर पदार्थों में आत्म-बुद्धि हो रही है वह अपने स्वरूप

से च्युत रहकर निःसंदेह ज्ञानावरणादिक कर्मों का बन्ध करता है और जिसको आत्मा में ही आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है वह ज्ञानी अंतरात्मा शरीरादिके संबंध से छूटकर मुक्त हो जाता है।

बहिरात्मा किसको आत्मा मानता है व अंतरात्मा किसको :-

दृश्यमानमिदं मूढास्त्रिलिंगमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु, निष्पन्नं शब्दवर्जितम्।।४४।।

अन्वय - मूढः दृश्यमानं त्रिलिंगं इदं अवबुध्यते अवबुद्धः तु शब्दवर्जितं निष्पन्नं इदं इति अवबुध्यते।

अर्थ - मूढ़ बहिरात्मा इस त्रिलिंगात्मक शरीर को ही आत्मा मानता है और ज्ञानी अंतरात्मा नामादि विकल्पों से रहित अनादि सिद्ध आत्मा को ही आत्मा मानता है।

अन्तरात्मा अपने को बाह्य पदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता क्यों मानता है :-

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं, विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद्, भ्रान्तिं भूयाऽपिगच्छति।।४५।।

अन्वय - (आत्मनः तत्त्वं जानन् अपि, विविक्तं भावयन् अपि पूर्वविभ्रम संस्कारात् भूयः अपि भ्रान्तिं गच्छति।

अर्थ - अविरत सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा, आत्मा के स्वरूप को जानते हुए भी तथा अन्य पदार्थों से भिन्न २ आत्मा की भावना करते हुए भी पूर्व (बहिरात्मावस्था के भ्रामक संस्कारों के कारण फिर भी भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ - अविरत सम्यग्दृष्टि अतरात्मा को यद्यपि विचार काल में बाह्य पदार्थों के, कर्त्ता-भोक्ता पने का भ्रम नहीं होता तथापि अनादि काल से सतत अभ्यास में आए हुए मिथ्यात्व जन्य संस्कारो के असर से साधारण अविचारित कार्यों में उसको कदाचित कर्ता मोक्तापने के व्यामोह भी हो जाता है इसी कारण उसके ज्ञानचेतना (शुद्धात्मा का अनुभव) के सिवाय कर्म चेतना (कर्त्तापने का अनुभव) व कर्मफल-चेतना (भोक्तापने का अनुभव) भी मानी गई है।

इन भ्रामक संस्कारों के दूर करने का उपाय :-

अचेतनमिदंदृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि, मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः।।४६।।

अन्वय - इदं दृश्यं अचेतनं, चेतनं अदृश्यं ततः क रुष्यामि क्क तुष्यामि, अतः अहं मध्यस्थः भवामि।

अर्थ - अंतरात्मा को निरंतर यह विचारते रहना चाहिये कि यह जितना भी दृष्टिगोचर जगत है, वह सब अचेतन है और जो चेतन है वह दृष्टि गोचर नहीं है। इसलिये में किस पर तो रोष (क्रोध) करूं और किस पर संतोष करूं ? अर्थात किसी से भी राग द्वेष न करके मुफे मध्यस्थ रहना ही उचित है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि-अंतरात्मा को पूर्व में कहे हुए कर्ता भोक्तापने आदि के अनेक मिथ्याभ्रामक संस्कारों को दूर करने के लिये निरन्तर यह विचार करते रहना चाहिये कि जिन बाह्य पदार्थों का मैं अपने को कर्ता व भोक्ता मानता हूं, अथवा जिनको देख कर क्रोधादि करता हूं वे सब पदार्थ जडरूप हैं मेरे स्वरूप से उनका कोई सम्बंध नहीं है ऐसे जड़ पदार्थो पर रोष करना व संतोष करना मुझे कदापि उचित नहीं है, इसलिये इन सब बाह्य पदार्थों पर माध्यस्थ्य भाव रखना ही योग्य है।

बहिरात्मा व अंतरात्मा किसका त्याग व ग्रहण करते हैं ?

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं, न त्यागो निष्ठितात्मनः।।४७।।

अन्वय - मूढ़ः बहिः त्यागादाने करोति, आत्मवित् अध्यात्मं निष्ठतात्प्रनः अन्तः बहिः न त्यागः न उपादानं।

अर्थ - मूढ़ बहिरात्मा द्वेष के उदय से बाह्य अनिष्ट पदार्थों का त्याग करता है और राग के उदय से बाह्य इष्ट पदार्थों का ग्रहण करता है तथा आत्म स्वरूप को जानने वाला अंतरात्मा अन्तरंग राग द्वेष आदिक का त्याग करता है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यकचारित्र आदि निज भावों को ग्रहण करता है और अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित जो कृतकृत्य सर्वज्ञ परमात्मा है वह न बाह्य आभ्यंतर किसी पदार्थ का त्याग करता है और न किसी का ग्रहण करता है।

भावार्थ - परमात्मा बाह्य पदार्थों का त्याग-ग्रहण तो पहले अंतरात्मा अवस्था में ही छोड देता है और रागादिक अंतरंग कषायों का त्याग व केवल ज्ञानादिक निज गुणों के ग्रहण करने से हीं वह परमात्मपद प्राप्त करता है इसलिये उसे अब कुछ त्यागना व ग्रहण करना बाकी नहीं रहता।

अंतरात्मा को रागादिक का त्याग व सम्यग्ज्ञानादिक का ग्रहण कैसे करना चाहिये ?

युञ्जीत मनसाऽत्मानं, वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु, त्यजेद्वाक्काययोजितम्।।४८।।

अन्वय - (आत्मानं मनसा युञ्जीत, वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् वाक्काययोजिंत व्यवहारं तु मनसा त्यजेत्।

अर्थ - आत्मा को मानसज्ञान के साथ तो तन्मय करना चाहिये और बचन व काय की क्रियाओं से रोकना चाहिये। तथा बचन व काय से किये हुए कार्य को भी मन से चिन्तवन न करें।

भावार्थ - रागादिक के त्यागने व सम्यग्दर्शनादि के प्राप्त करने के लिये अन्तरात्मा को वचन व काय की क्रियायें छोड़ते जाना चाहिये और मन के द्वारा निरन्तर आत्म-चिन्तवन करते रहना चाहिये। तथा वचन व काय की कोई आवश्यक क्रिया यदि करनी भी पडे तो उसमें मन नहीं लगाना चाहिये।

प्रश्न :- स्त्री पुत्रादिक के साथ काय की चेष्ठा व वचनालाप करते समय सुख होता है फिर वचनकाय के व्यापार त्यागने से क्या लाभ ?

उत्तर :-

जगेद्दहात्मदृष्टीनां, विश्वासस्यं रम्यमेव वा।
स्वात्मयेवाऽऽत्मदृष्टीनां क्व विश्वासःक्व वा रतिः।।४९।।

अन्वय - देहात्मदृष्टीनां जगत् विश्वासस्यं रम्यं एव वा स्वात्मनि एव आत्मदृष्टिनां क्व विश्वासः वा क्व रतिः।

अर्थ - शरीर में आत्मदृष्टि रखने वाले बहिरात्मा जीवों को यह स्त्री पुत्र, धन धान्यादिक का समूहरूप संसार विश्वास पात्र व मनोहर मालूम देता है। किन्तु आत्मा में ही आत्मदृष्टि रखने वाले ज्ञानी पुरुषों को इस प्रपंचरूप संसार में कहां का विश्वास और कहां की रति।

भावार्थ - जब तक इस जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होकर देह आदिक परपदार्थों में आत्मबुद्धि बनी रहती है तभी तक उसे बाह्य पदार्थ मनोहर मालूम देते है, अथवा उसको उनमें विश्वास रहता है और जब उस पुरुष को स्वपर का वास्तविकज्ञान हो जाता है तब उसे निजानंदको छोड कर बाह्य पदार्थों में रमने की कदापि इच्छा नहीं होती, बाह्य विषय उसे नीरस व दुखद मालूम देने लगते हैं।

अंतरात्मा को मन वचन काय की प्रवृत्ति कैसी रखनी चाहिये :-

आत्मज्ञानात्परं कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः।।५०।।

अन्वय - आत्मज्ञानात् परं कार्यं बुद्धौ चिरं न धारयेत् अर्थ वशात् किंचितवाक्कायाभ्यां अतत्परः कुर्यात्।

अर्थ - आत्मज्ञान के सिवाय अन्य कार्यों को बहुत काल तक बुद्धि में धारण नहीं करना चाहिये, प्रयोजनवश यदि कुछ बाह्य कार्य करने हों तो उन्हें केवल वचन व काय से करने चाहिये, उनमें मन से आसक्त नहीं होना चाहिये।

भावार्थ - मोक्ष के इच्छुक ज्ञानी पुरुषों को अपना मुख्य लक्ष्य तो आत्मोद्धार ही रखना चाहिये, मानसिक उपयोग को बाह्य कार्यों में न लगाकर निरन्तर आत्महित के कार्यो में ही लगाना चाहिये आर अपने व परके उपकार वश कुछ बाह्य कार्य करने भी पडे तो उनमें विशेष उपयोग न लगाकर, आवश्यक समझ, वचन व काय से कर देना चाहिये।

अन्तरात्मा आत्म स्वरूप के विषय में क्या विचारता है :-

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे, नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तःपश्यामि सानन्दं, तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्।।५१।।

अन्वय - यत् इन्द्रियैः पश्यामि तत् मे नास्ति, नियतेन्द्रियः यत उत्तमं ज्योतिः सानन्दं अंतः पश्यामि तत् अस्तु।

अर्थ - जिस शरीरादिक को मैं इन्द्रियों के द्वारा देखता हूं वह मेरा स्वरूप नहीं है। इंद्रियों को बाह्य विषयों से रोक कर स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जिस परमानन्दमय अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप उत्तम ज्योति को मैं अन्तरंग में देखता हूं, वही वास्तव में मेरा स्वरूप है।

भावार्थ - जब बाह्य विषयों से उपेक्षा कर अन्तरात्मा आत्मस्वरूप के चिंतवन में तन्मय

हो जाता है। उस समय उसको परमानन्दमयी आत्मज्योति साक्षात सरीखी प्रतिभासित होने लगती है। और वह अपने उसी चिदान्दानुभवन में मग्न रहने लगता है। बाह्य विषयों की निकटता होने पर भी उनकी तरफ उसका ध्यान नहीं जाता।।१।।

परमानन्दमयी ज्योति अनुभव करते समय आत्मा को कष्ट क्यों होता है :-

सुखमारब्धयोगस्य, बहिर्दुःस्वमथात्मनि।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मभावितात्मनः।।५२।।

अन्वय - आरब्धयोगस्य बहिः सुखं अथ आत्मनि दुःखं भावितात्मनः बहिः एव असुखं अध्यात्मं सौख्यम्।

अर्थ - जो पुरुष आत्म स्वरूप की भावना करना प्रथम ही प्रारम्भ करता है उसे प्राचीन संस्कारों के कारण बाह्य विषयों में सुख और आत्म विचार में दुःख मालूम होता है। जिसको निरंतर भावना करते रहने से आत्म-स्वरूप का प्रतिभास हो जाता है उसे बाह्य विषयों में दुःख ओर आत्म चिंतवन में सुख होने लगता है।

भावार्थ - आत्म चिंतवन करना प्रारंभ कर देने पर भी जब तक भावना करने वाले को आत्म स्वरूप की पहिचान नहीं होती तब तक उसे आत्मिक आनन्द न आने से बाह्य विषय मनोहर जान पडते हैं। तथा आत्म विचार करना एक प्रकार की झंझट दिखाई देती है। जब उसे अभूतपूर्व परमानन्दमय आत्म स्वरूप का अनुभव होने लगता है। तब वह उसमें ऐसा मग्न होता है कि उसे बाह्य विषय, बिष सरीखे मालूम देने लगते हैं। जैसे कोई पुरुष जन्म से ही अपने पास के खारे कुएं का पानी पीता रहा हो और उसको कुछ दूर से निर्मल शीतल मिष्ट जल के कुवें का पानी लाकर पीने को कहा जाय तो जाते समय उसे खेद होने के कारण अपना खारा कुवां ही अच्छा मालूम देगा क्योंकि पास के खारी कुवें पर जाते समय मार्ग की धूप सहनी नहीं पडेगी। किन्तु जब वह दूर वाले कुवें के निर्मल-शीतल-स्वादिष्ट जल को पीवेगा, तब उसे अपने पास का खारी कुवां बहुत मालूम देने लगेगा और मार्ग की थकावट को वह भूल जायगा।।४३।।

आत्मस्वरूप की भावना किस प्रकार करनी चाहिये :-

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परोभवेत्।
येनाऽविद्यामयंरूपं, त्यक्त्वा विद्यामयं ब्रजेत्।।५३।।

अन्वय - तद्ब्रूयात्, तत् परान् पृच्छेत्, तत् इच्छेत् तत्परो भवेत् येन अविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।

अर्थ - आत्म स्वरूप की ही बात दूसरों से कहनी चाहिये, आत्मस्वरूप को ही दूसरों से पूछना चाहिये, उसी आत्म-स्वरूपके चिंतवन में ही प्रति समय तन्मय रहना चाहिये जिससे कि अज्ञानमय अवस्था छूटकर ज्ञानमय-आत्मस्वरूप की प्राप्ति होवे।

भावार्थ - जैसे किसी धनिक वृद्धपुरुषका अत्यन्त प्रेमपात्र एकमात्र विवाहित पुत्र विना कहे परदेश चला जावे तो वह वृद्ध पुरुष जिस किसीसे भी बात करनेका अवसर मिलता है तौ अपने पुत्रकी ही बात करता है, किसीसे कुछ पूछता है तो अपने पुत्रके आने की ही बात पूछता है, यदि किसी वस्तु की इच्छा करता है तो एकमात्र अपने प्रिय पुत्र के आने की ही इच्छा करता है, यदि किसीका चिंतवन भी करता है तो उसी अपने प्रेम पात्र पुत्र का करता है। सारांश यह है कि जैसे उस वृद्ध पुरुष के चित्त से उसका पुत्र किसी क्षण भी पृथक् नहीं होता, इसी प्रकार कर्मबंध से छूटने की इच्छा रखनेवाले, आत्मदर्शनेच्छु भव्य प्राणीको आत्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिये निरन्तर चेष्टा करते रहना चाहिये उसी की और सतत अपनी लौ लगाये रखना चाहिये।

अज्ञानी और ज्ञानी आत्मा किसको मानते हैं :-

शरीरे वाचि चात्मानं संधत्ते वाक्शरीरयोः
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं, पृथगेषां विबुध्यते।।५४।।

अन्वय - वाक्शरीरयोः भ्रान्तः शरीरे वाचि च आत्मानं संघत्ते अभ्रान्तः पुनःएषां तत्त्वं पृथक विबुध्यते।

अर्थ - बचन और शरीर के वास्तविक स्वरूप को न जानने वाला भ्रांत बहिरात्मा, शरीर और बचन को ही आत्मा जानता है और ज्ञानी पुरुष शरीर, बचन व आत्मा के स्वरूप को पृकक् २ जानता है।

बहिरात्मा जिन बाह्य विषयों में आसक्त हो रहा है, वे इसके हितकारक नहीं हैं :-

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु, यत् क्षेमंकरमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्।।५५।।

अन्वय - इन्द्रियार्थेषु तत् न अस्ति यत् आत्मनः क्षेमंकरं, तथापि बालः अज्ञानभावनात्

तत्र एव रमते।

अर्थ - पांच इन्द्रियों के विषयों में ऐसी कोई भी विशेषता नहीं है जिससें कि आत्मा का कुछ भला हो सके। खेद है ! कि यह संसारी जीव ऐसा होने पर भी अज्ञानवश उन विषयों में ही रमता रहता है।

भावार्थ - सब तरफ से हानिकारक, अनित्य, ज्ञानी पुरुषों के द्वारा निषिद्ध, इन्द्रियों के विषय में भी जो इस जीव को आनन्द आने लगता है वह सब अज्ञान की ही महिमा है।

अनादिकालीन मिथ्यात्ववश जीव क्या करते हैं !

चिरं सुषुप्तास्तमसि, मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु, ममाहमिति जागृति।।५६।।

अन्वय - मूढात्मानः तमसि कुयोनिषु चिरं सुषुप्तः अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहं इति जागृतिः।

अर्थ - मूढ़ संसारी जीव मिथ्यात्व के उदयवश अनादि काल से निगोदादिक कुयोनियों में निवास कर रहे हैं, अर्थात् अचेत पडे सो रहे हैं। यदि कदाचित् कर्मोदय से ये जीव मन सहित संज्ञी भी होजाते है तो मानसिक संकल्प विकल्पो के द्वारा प्रत्यक्षभिन्न स्त्रीपुत्रादिक संबंधियों को भी अपने मानकर अनेक प्रकार के प्रपंच में पडे रहते हैं।

भावार्थ - निगोदादिक पर्यायों में तो ज्ञानकी अत्यन्त न्यूनतासे यह जीव अनेक दुःख भोगता ही है किन्तु पहली पर्यायों की अपेक्षा विशेष ज्ञानवान् मनसहित पंचेन्द्रिय होने पर भी रागद्वेषमोहवश दूसरों को अपने मान, दुःखी ही रहता है।

बहिरात्मावस्था को त्याग इस प्रकार ख्याल करना चाहिये :-

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्वे व्यवस्थितः।।५७।।

अन्वय - आत्मत्वे व्यवस्थितः आत्मनः देहं निरंतरं अनात्मचेतसा पश्येत् अन्येषां अपरात्मधिया।

अर्थ - आत्मस्वरूप में स्थित होकर अपने शरीरको निरन्तर अपने से भिन्न समझना चाहिये और स्त्री-पुत्रादिक दूसरे जीवों के शरीर को उनकी आत्मा से भिन्न मानना चाहिये।

भावार्थ - देह के साथ आत्मा की अभेद बुद्धि अनादिकाल से हो रही है। निरन्तर उत्तम २ उपदेशों के मिलने पर भी इस व्यामोह का मिटना कष्टसाध्य समझ कर, ग्रंथकार बार २ अनेक प्रकार से इसी बात को दिखाते हैं।

शंकाः- जैसे अपने वास्तविक स्वरूप को स्वयं जानना चाहिये, वैसे ही दूसरों को भी बताना चाहिये, या नहीं ?

उत्तर -

अज्ञापितं न जानन्ति, यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां, वृथा मे ज्ञापनश्रमः।।५८।।

अन्वय - मूढ़ात्मानः यथा मां अज्ञापितं न जानन्ति तथा ज्ञापितं, ततः तेषां ज्ञापनश्रमः मे वृथा।

अर्थ - तत्वज्ञानी अंतरात्मा कहता है-अपने मन को समझाता है कि जैसे ये मूढ़ अज्ञानी जीव मेरे स्वरूप को बिना बताये नहीं जानते, वैसे ही बताने से भी नहीं जान सकेंगे इसलिये उनके बोध कराने के लिये जो मेरा खेद करना है, वह वृथा है।

भावार्थ - बहुत से ज्ञानी पुरुष दूसरों को उपदेश करने में इतने व्यग्र हो जाते हैं कि उपदेश न मानने पर अधीर हो उठते हैं और वस्तुस्वरूप को भूलकर सुनने वालों से कषाय करने लगते हैं जिसके कारण वे दूसरों के हित करने के भ्रम में पड़ कर अपना अहित कर लेते हैं। ऐसे पुरुषों के प्रतिबोध के लिये ही यह उपर्युक्त श्लोक ग्रंथकार ने लिखा है, जिसके लिखने का यह आशय है कि परोपदेश की प्रवृत्ति का होना ज्ञानी जीवों को शुभ कषाय रूप समझना चाहिये और अपनी शुद्ध परिणति को प्राप्त करने की योग्यता होते समय इसको भी बाधक ही समझना चाहिये। इस शुभ प्रवृत्ति के व्यामोह में पड़ कर आत्महित को कदापि भूलना नहीं चाहिये।

इसी बातको दूसरी तरह से कहते हैं -

यद्बोधयितुमिच्छामि, तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तकिमन्यस्य बोधये।।५९।।

अन्वय - यद्बोधयितुं इच्छामि तत् न अहं, पुनः यत् अहं तत् अपि अन्यस्यग्राह्यम् न तत् अन्यस्य किं बोधये।

अर्थ - जिस देहादिक के स्वरूप को मैं संसारी जीवों को सुनाना चाहता हूं अथवा वे सुनना चाहते हैं, वे देहादिक तो मेरे स्वरूप नहीं हैं और जो मेरा वास्तविक परमानंदमय स्वरूप है उसको ये मूढ़जीव जान नहीं सकते, इसलिये अब मैं इनको क्या समझाऊं।

भावार्थ - ज्ञानी अंतरात्मा परोपदेश करने की अनुचित लालसा व व्यग्रता से छूटने के लिये फिर अपनी आत्मा को समझाता है कि आत्मन्, यदि तूं इन संसारी जीवों को उपदेश भी देगा तो शरीरादिक जड़ पदार्थो के विषयमें दे सकता है क्योंकि आत्माका शुद्धस्वरूप तो एक प्रकार से वचन द्वारा कहा भी नही जा सकता, तथा इन्द्रियोंसे सुनकर ग्रहण भी नहीं किया जासकता है। संसार के दुःखों का व शरीरादिक का अनुभव इन जीवों को स्वयं ही हो रहा हैं फिर तूं इनको उपदेश देने के झंझट में पड़ कर व उपदेश न मानने से खिन्न होकर व्यर्थ ही आकुलित क्यों होता है।

बहिरात्मा व अंतरात्मा किसमें संतुष्ट होते हैं :-

बहिस्तुष्यति मूढ़ात्मा, पिहितं ज्योतिरन्तंरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा, बहिर्व्यावृत्तकौतुकः।।६०।।

अन्वय - मूढ़ात्मा अन्तरे पिहितं ज्योतिः बहिः तुष्यति बहिर्व्यावृत्तकौतुकः प्रबुद्धात्मा अन्तः तुष्यति।

अर्थ - मोह करके जिसकी अंतरंग ज्ञान ज्योति आच्छादित हो रही है वह मूढ़ बहिरात्मा शरीरादिक बाह्य विषयों में ही संतुष्ट रहता है और जिसका बाह्य विषयों में अनुराग नहीं रहा, वह ज्ञानी अंतरात्मा अपने अंतरंग आत्म-स्वरूप में ही संतुष्ट होता है।

तत्वज्ञानी, बहिरात्मा की दशा पर विचार करता है : -

न जानन्ति शरीराणि, सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहाऽनुग्रहधियं तथाप्यत्रैव र्कुवते।।६१।।

अन्वय - शरीराणि सुखदुःखानि न जानन्ति तथापि अबुद्धयः अत्रैव निग्रहानुग्रहद्यियं कुर्वते।

अर्थ - औदारिकादिक शरीर जड़रूप होने से सुख-दुःख को नहीं जानते तो भी मूढ़ बहिरात्मा इन शरीरोंसे राग-द्वेष करता है और द्वैषवश भूखा मरके शरीर को दुःख देना चाहता है तथा रागवश अनेक प्रकारके भूषण-वस्त्र पहिन कर शरीर को सुखी करना चाहता है।

भावार्थ - अंतरात्मा विचारता है कि देखो, ये संसारी प्राणी कितने मूढ हैं, जो शरीर जड़रूप है उसको भी राग-द्वेषवश सुखी-दुःखी करने की चेष्टा करते हैं।

संसार व मोक्ष कब होता है :-

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां, भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः।।६२।।

अन्वय - कायवाक्चेतसां त्रयं यावत् स्वबुद्ध्या गृह्णीयात् तावत्संसारः, एतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वतिः।

भावार्थ - जब तक यह जीव मन-बचन काय व इनके निमित्त से होनेवाले रागादिक विकारों व अन्य बाह्य कार्यों को अपने समझता रहता है तब तक वह जीव संसारी है और जब ``मन, बचन, काय'' इन तीनों को तथा इनके निमित्त से उत्पन्न हुए राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को व स्त्रीपुत्रादिक बाह्य पदार्थों को यह जीव पूर्णरूप से भिन्न समझ लेता है तब मुक्ति का पात्र बन जाता है।

भेद ज्ञान होनेपर अंतरात्मा की परिणति :-

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं, न घनं मन्यते बुधः।।६३।।
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं, न जीर्ण मन्यते बुधः।।६४।।
रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं, न रक्तं मन्यते बुधः।।६५।।
नष्टे वस्त्रे यथात्मानं, न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽ प्यात्मानं न नष्टं मन्येत बुधः।।६६।।

अन्वय - बुधः यथा घने वस्त्रे सति आत्मानं घनं न मन्यते तथा स्वदेहे घने अपि आत्मानं घनं न मन्यते। यथा बुधः वस्त्रे जीर्णे सति आत्मानं जीर्णं न मन्यते तथा स्वदेहे जीर्णे अपि आत्मानं जीर्णं न मन्यते। यथा बुधः वस्त्रे रक्ते आत्मानं रक्तं न मन्यते। तथा स्व देहे रक्ते अपि आत्मानं रक्तं न मन्यते यथा बुधः वस्त्रे नष्टे सति आत्मानं नष्टं न मन्यते तथा स्वदेहे नष्टे अपि आत्मानं नष्टं न मन्यते।

अर्थ - बुद्धिमान भेदज्ञानी अंतरात्मा जैसे दृढ़ या मजबूत कपडें को पहिनकर आत्मा

को वलिष्ठ नहीं मानता वैसे ही शरीर के पुष्ट होने से आत्मा को पुष्ट नहीं मानता। वस्त्र के पुराने हो जानेपर जैसे आत्मा को जीर्ण नहीं मानता वैसे ही शरीर के कृश या वृध्द हो जाने पर आत्मा को कृश या वृद्ध नहीं मानता। रंगे हुए वस्त्र पहिनकर जैसे आत्मा को रंगी हुई नहीं मानता, उसी तरह केशर चन्दनादि से शरीर को रंगकर भी आत्मा को रंगी हुई नहीं मानता। इसीप्रकार जैसे वस्त्र के नष्ट होजाने पर भी आत्मा को नष्ट नहीं मानता वैसे ही शरीर के नष्टं होजाने पर भी आत्मा को नष्ट नहीं मानता।

भावार्थ - ज्ञानी पुरुष इस शरीर को नष्ट वस्त्र के समान समझते हैं, जैसे वस्त्रों के ग्रहण व त्याग में अन्य जीवों को आत्मा के जीवनमरण का भ्रम नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी पुरुषों को शरीर के ग्रहण व त्याग में भी आत्मा के जीवन-मरण का भ्रम नहीं होता।

परमवीतराग रूप शांतदशा को कौन प्राप्त कर सकता है :-

यस्य सस्पन्दमाभाति, निस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं, स शंम याति नेतरः।।६७।।

अन्वय - यस्य अप्रज्ञ अक्रियाभोगं सस्पंदं जगत् निस्पंदेन समं आभाति स शमं याति नेतरः।

अर्थ - जिस ज्ञानी पुरुष को, ज्ञानरहित, आचरण आदि क्रियारहित तथा सुख आदि के अनुभवरूप भोपरहित, यह शरीरादि रूप जीव के निमित्त से अनेक चेष्टा करनेवाला जगत्, निस्पंद-निश्चेष्ट-लकडी पत्थर सरीखा मालूम पडने लगता है वही पुरुष परम वीतराग शांत अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इस परमवीतराग अवस्था को अनेक प्रकार के प्रपंच में फंसे हुए मूढ़ बहिरात्मा जीव नही प्राप्त कर सकते।

बहिरात्मा अपना स्वरूप क्यों नहीं पहिचानता :-

शरीरकंचुकेनात्मा, संवृतो ज्ञानविग्रहः
नात्मानंबुध्यते तस्माद्, भ्रमत्यतिचिरं भवे।।६८।।

अन्वय - ज्ञानविग्रहः आत्मा शरीरकंचुकेन संवृतः आत्मानं न बुध्यते तस्मात् भवे अतिचिरं भ्रमति।

अर्थ - ज्ञान ही है शरीर जिसका ऐसा यह आत्मा कार्माणशरीर रूपी कांचली से ढका हुआ है। इसलिये अपने वास्तविक स्वरूप को न जानकर अनादि काल से संसारचक्र

में भ्रमण करता फिर रहा है। यहां पर कांचली को केवल दष्टान्त मात्र समझना चाहिये। जिस प्रकार सर्प के केवल ऊपरी भाग में, वृक्ष की छाल की तरह, कांचली रहती है, शरीर के अन्दर नहीं रहती, उसी प्रकार आत्मा के साथ, कार्माणशरीर (सूक्ष्म शरीर) का सम्बन्ध नही समझना चाहिये। किन्तु संसारी आत्मा और कर्म को इस प्रकार मिला हुआ मानना चाहिये जिस प्रकार दूध में मीठा वा पानी में नमक मिल जाता है। अथवा जैसे दाद की दवा बनाते समय पारे और गंधक को पीसकर एकमेक करने पर देनों की अवस्था बिल्कुल कज्जल सरीखी हो जाती है। पारे की सफेदी व चमक और गंधक का पीलापन न जाने कहां चला जाता है। इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का सर्वांश संबंन्ध रहने पर दोनोंके गुण विकृत रहते हैं। आत्मा का अनन्त सुख-दुख रूप परिणत रहता है और सम्यक्त्वादि गुणो की भी यही हालत रहती है।

बहिरात्मा, शरीर को आत्मा क्यों समझता है :-

प्रविशद्गलतां व्यूहे, देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते, तमात्मानमबुद्धयः।।६९।।

अन्वय - अबुद्धयः प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे समाकृतौ स्थितिभ्रान्त्या तं आत्मान प्रपद्यन्ते।

अर्थ - मूढ़बुद्धि वाले बहिरात्मा जीव, निरंतर प्रवेश करने वाले व जीर्ण होने वाले पुद्गल परमाणुओं के समुह रूप शरीर को आत्मा के समान आकार वाला देखकर तथा शरीर व आत्मा की एक क्षेत्र में स्थिति होनें के कारण उतपन्न हुए भ्रम से शरीर को ही आत्मा जानते है।

भावार्थ - यदि इस शरीर का असली स्वरूप विचार कर देखा जाय तो वह घृणित पुद्गल परमाणुओं के पुंजा के सिवाय और कुछ नहीं मालूम देता और जिन परमाणुओं से यह बना है वे भी इसमें शरू सें अन्त तक हमेशा नहीं रहते, किन्तु प्रतिक्षण शरीर में नवीन-नवीन परमाणु आकर मिलते रहते हैं। शरीर की यह दशा होते हुए भी आत्मा के समान आकार वाला होनेसे तथ बहुत काल से शरीर व आत्मा की एक क्षेत्र में स्थिति रहने से मूढ बहिरात्मा इस शरीर को ही आत्मा मानता है।।६९।।

शरीर के धर्मों से आत्मा को पृथक् मानने का उपदेश :-

गौरःस्थूलः कृशोवाऽहमित्यङ्गेन विशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं, केवलज्ञप्तिविग्रहम्।।७०।।

अन्वय - अहं गौरःस्थूलःवा कृशः इति अंगेने विशेषयन् केवल ज्ञप्तिविग्रहं आत्मानं नित्यं धारयेत्।

अर्थ - मैं गोरा हूं, स्थूल हूं अथवा कृश हूं' इस प्रकार शरीर के धर्मों से पृथक् समझकर आत्मा को नित्य ही केवल ज्ञान स्वरूप अथवा रागादि से भिन्न एकमात्र ज्ञानस्वरूप वा केवलज्ञानरूपी शरीर विशिष्ट मानना चाहिये।।७०।।

मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता कब आती है :-

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य, चित्ते यस्याऽचलाधृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्ति, र्यस्य नास्त्यंचलाधृतिः।।७१।।

अन्वय - यस्य चिते चला धृतिः तस्य एकान्तिकी मुक्तिः।

अर्थ - जिस पुरुषके चित्तमें आत्म स्वरूपकी निश्चल स्थिति है उसको नियम से मुक्ति प्राप्त होती है। जिस पुरुष की आत्मस्वरूप में निश्चल स्थिति नहीं है उसको मुक्ति कदापि नहीं हो सकती।

भावार्थ - यह जीव आत्मस्वरूप में निश्चल होकर तन्मय होने से मुक्ति का पात्र होता है। बिना आत्मस्थिरता के मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को क्या करना चाहिये :-

जनेभ्यो वाक्ततः स्पन्दो, मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं, जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।।७२।।

अन्वय - जनेभ्यः वाक्, ततः मनसः स्पन्दः तस्मात् चित्तविभ्रमाः भवन्ति, ततः योगी जनैः संसर्गं त्यजेत।

अर्थ - जगत के जीवों से मिलने पर बचन की प्रवृत्ति होती है, बचन की प्रवृत्ति होने से मनमें व्यग्रता होती है और व्यग्रता होने से मन विक्षिप्त सरीखा हो जाता है, इसलिए आत्महित या मोक्ष पद के इच्छुक योगी पुरुषों को व्यवहारी जना का संसर्ग सर्वथा छोडना उचित है।

नगर व वन की कल्पना किस के हृदय में होती है :-

ग्रामोरण्यामिति द्वेधा, निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः।।७३।।

अन्वय - ग्रामः अरण्यं इति द्वेधा निवासः अनात्मदर्शिनाम् दष्टात्मनां निवासः तु विविक्तः निश्चलः आत्मा एव।

अर्थ - यह ग्राम है अथवा यह वन है, इस प्रकार दो तरह के स्थान की कल्पना अनात्मदर्शी बहिरात्मा जीवों को ही होती है, और आत्मस्वरूप को जानने वाले ज्ञानस्वरूप को जानने वाले ज्ञानी पुरुषो का निवास स्थान वास्तव में उनका रागादि रहित निश्चल आत्मा ही होता है। क्योंकि आत्मज्ञानी पुरुष निरन्तर अपने आत्मा गुणों के अनुभव में ही रमे रहते हैं इसलिए उनका ध्यान बाह्य ग्राम वन आदि की तरफ नहीं जाता, परमानन्द मय निज आत्मा को ही वे एकप्रकार का मनोहर उपवन समझते हैं।।७३।।

शरीर को आत्मा व आत्मा को आत्मा मानने से क्या होता है :-

देहान्तरगतेर्बीजं, देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना।।७४।।

अन्वय - अस्मिन् देहे आत्मभावना देहान्तरगतेः बीजं आत्मनि एव आत्मपावना विदेहनिष्पत्तेः बीजं।

अर्थ - इस शरीर में आत्मा की भावना करना परलोकगमन का कारण है और आत्मा में ही आत्मा की भावना करना मोक्ष प्राप्ति का कारण है।

भावार्थ - जो पुरुष शरीर को ही निश्चय से आत्मा समझता है वह निरन्तर नवीन २ शरीर धारण करता है और जो पुरुष आत्मा को ही निरंतर आत्म रूप से चिंतवन करता है वह मुक्तरूप शुद्ध आत्मा होजाता है।

आत्मा का गुरु कौन है :-

नयत्यात्मानमात्मैव, जन्मनिर्वाणमेवच।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्तिपरमार्थतः।।७५।।

अन्वय - आत्मा एव आत्मानं जन्म निर्वाणं च नयति तस्मात् आत्मनः गुरुः आत्मा परमार्थतः अन्यः न अस्ति।

अर्थ - आत्मा ही आत्मा को जन्म रूपी संसार में रुलाता है और स्वयं ही संसार से पार करके मोक्ष पद प्राप्त कराता है। इस लिए आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई वास्तव में गुरु नहीं है।

भावार्थ - आत्म हित के उपदेशक आचार्यादिक गुरुओं का सच्चा उपदेश सुनकर भी जब तक यह जीव विषयकाषायादिक का त्याग नहीं करता है तबतक बराबर संसारसागर में रुलता रहता है और कभी-कभी आचार्यों के उपदेश सुने विना भी विषय-कषायादिक स्याग करके मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। इसलिए वास्तव में आत्मा को स्वयं अपना गुरु अपने को ही मानना चाहिए।

बहिरात्मा को मरने से भय क्यों लगता है :-

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च, बिभेति मरणाद्भृशम्।।७६।।

अन्वय - देहादौ दढ़ात्मबुद्धिः आत्मनः नाशं, मित्रादिभिः वियोगं च उत्पश्यन् मरणात् भृशं बिभेति।

अर्थ - शरीरादिक में जिसकी दढ़ आत्म बुद्धि होरही है वह पुरुष शरीर छूटते समय आत्मा का नाश मानकर तथा मित्रादिकों से वियोग हुआ जानकर, मरण से अत्यन्त भय खाता है।

भावार्थ - यद्यपि इस वर्तमान शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर प्राप्त करना, पुराने कपड़े को उतार कर नवीन कपड़े बदलने के समान है, इसमें भय करने की वा दुःख मानने की कोई भी बात नहीं हैं। तथापि जो अज्ञानी जीव इस शरीर को आत्मा समझे हुए हैं और मित्र वर्ग में अत्यन्त मोहित होरहे हैं, उनको मरने से अत्यन्त भय लगता है। और इस भय लगने का मूल कारण वास्तव में उनका उपर्युक्त अज्ञान ही है।

ज्ञानी पुरुष को मरने का भय क्यों नहीं होता :-

आत्मन्येवात्मधीरन्यां, शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भय त्यक्तवा, वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम्।।७७।।

अन्वय - आत्मनि एव आत्मधीः आत्मनः अन्यां शरीरगतिं वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहं इव निर्भयं मन्यते।

अर्थ - जिसको आत्मा में ही आत्मबुद्धि हो गई वह ज्ञानी पुरुष दूसरे शरीर प्रांत करने को पुराने वस्त्र को उतार कर नवीन वस्त्र बदलने की तरह समझता है और निर्भय रहता है।

एक साथ व्यावहारिक व पारमार्थिक कार्य क्यों सिद्ध नहीं होते :-

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्, सुषुप्तश्चात्मगोचरे।।७८।।

अन्वय - यः व्यवहारे सुषुप्तः सः आत्मगोचरे जागर्ति अस्मिन् व्यवहारे यः जागर्ति सः आत्मगोचरे सुषुप्तः।

अर्थ - जो व्यवहारके कार्योमें सोता है अर्थात् उनमें उदासीन रहता है यह आत्म अनुभव के विषयों में जागता है अर्थात् उसमें तन्मय रहता है और जो पुरुष व्यावहारिक कार्यों में तन्मय रहता है वह आत्मानुभव से कोसों दूर रहता है।

भावार्थ - जीवों के चित्त की वृत्ति एक समय में विरुद्ध दो कार्यों में नहीं लग सकती,जिस समय मन, विषयों में फंसा रहेगा उस समय आत्महित के कार्य उसे अच्छे नहीं लगेंगे और जिस समय आत्महित की तरफ मनका झुकाव होगा, उस समय उसे विषय कषाय विष सरीखे लगने लगेंगे।

जीवको मुक्ति कब प्राप्त होती है :-

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा, दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतोभवेत्।।७९।।

अन्वय - आत्मानं अंतरे दृष्टवा, देहादिक बहिः दृष्टवा तयोः अन्तरविज्ञानात् अभ्यासात् अच्युतः भवेत्।

अर्थ - आत्मा को अंतरंग में देखकर और शरीरादिक को वाह्य जानकर शरीर और आत्मा की भिन्नता का दृढं ज्ञानाभ्यास करते २ जीव मुक्त होजाता है।

भावार्थ - जब इस जीव को आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट मालूम दे ने लगता है तब यह शारीरिकक्रियाओं से उपेक्षा करने लगता है और सम्यकज्ञानादिक आत्मिकगुणों की प्राप्ति व वृद्धि के लिए प्रयत्न करने लगता है। इसी तरह करते २ जब सम्पूर्ण देहादि संबंधी क्रियाओं को छोड़कर अपने सर्व आत्मिक गुणों का पूर्ण विकाश कर लेता है तब

वह जीव मुक्त होजाता है।

ज्ञानी पुरुष जगत् को कैसा जानते हैं :-

पूर्वंदृष्टात्मतत्त्वस्यं, विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्, काष्ठपाषाणरूपवत्।।८०।।

अन्वय - दृष्टात्मतत्त्वस्य जगत् पूर्वं उन्मत्तवत् विभाति, स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्।

अर्थ - जिसने अपने आत्मस्वरूप को जान लिया है उस ज्ञानी पुरुष को पहले यह जगत् उन्मत्त सरीखा मालूम देने लगता है, और जब आत्मानुभव का और भी आधिक दृढ अभ्यास होजाता है तब उस महापुरुष को यह जगत् काष्ठ पाषाण सरीखा बिल्कुल निश्चेष्ट दिखाई देने लगता हैं।

भावार्थ - जब इस जीव को देह आत्मा का भेदज्ञान होने से अपने परमान्दमय चैतन्य चमत्कार स्वरूप आत्मदेव का दर्शन होने लगता है उस समय वह ज्ञानी पुरुष इस अपूर्व आनन्द से जगत के जीवों को बंचित देखकर उनकी दशा पर करुणा करता हुआ विचार करता है कि देखो, ये संसारी प्राणी कितने मुर्ख हैं कि इस अपूर्व आनन्द को प्राप्त करने की योग्यता खते हुए भी इस सुधारस के स्वाद से बंचित रहते हैं और अत्यन्त धृणित व नीरस विषय भोगों को भोगकर, अस्थि (हाड़) चाबने वाले श्वान की तरह आनन्द मानते हैं पीछे वही ज्ञानी पुरुष आत्म स्वरूप के अनुभव में तन्मय होजाता है तब उसका ध्यान जगत के जीवोंकी तरफ बिल्कुल भी नहीं रहता, इसलिए वह जगत को काष्ठ पत्थर आदि की तरह निश्चेष्ट क्रियाशून्य ही समझता है। अर्थात् आत्म स्वरूप में तन्मय होजाने पर जगत विषयक करुणा भाव भी उसके हृदय से निकल जाता है। उस समय वह ध्यानी महात्मा राग द्वेष रहित वीतराग दशा को प्राप्त होजाता है।

शरीर व आत्मा की भेद-भावना के विना मुक्ति नहीं होती :-

श्रृण्वन्नप्यन्यतः कामं, वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं, यावत्तावन्न मोक्षभाक्।।८१।।

अन्वय - कलेवराद् भिन्नं आत्मानं, अन्यतः कामं श्रृणवन् अपि, वदन् अपि, यावत् भिन्नं न भावयेत् तावत् मोक्षभाक् न।

अर्थ - ``शरीर से आत्मा भिन्न है'' इस बातको उपाध्याय आदिक गुरुओं से सुनकर भी तथा इसी बातको दूसरों से बारबार कहते रहने पर भी जब तक भेद ज्ञानकी दृढ़-भावना नहीं की जाती तब तक मुक्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ - आत्मा और शरीर के भेद की कथा को तोते की तरह कहने-सुनने मात्र से बिशेष फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु सुकोशल मुनि की तरह इस प्रकार की भेद भावना होनी चाहिये जिससे कि व्याघ्रादि क्रूर जीवोंके द्वारा शरीरके भक्षण किये जाने पर भी आत्मा में आकुलता न होवे। अथवा पांडवों की तरह शरीर के जलते रहने पर भी राग उत्पन्न न होवे। इस प्रकार की दृढ भेद भावना से ही वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्मा को शरीर से भिन्न मानना कब सार्थक होता :-

तथैव भावयेद् देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथानपुनरात्मानं, देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्।।८२।।

अन्वय - देहात् व्यावृत्य आत्मानं आत्मनि तथैव भावयेत् यथा पुनः स्वप्नेऽपि देहे आत्मानं न योजयेत्।

अर्थ - शरीर से भिन्न मानकर आत्मा की आत्मा में इस प्रकार दृढ़ भावना करनी चाहिये जिससे कि स्वप्न में भी शरीर में आत्मा का प्रतिभास न होने पावे। शरीर को आत्मा न समझा जावे।

भावार्थ - किसी वस्तु का संस्कार ह्रदय से पूर्ण निकला हुआ तभी समझना चाहिये जब कि स्वप्न में भी उस संस्कार का असर ह्रदय पर न होने पावे। इसी वात को लेकर इस श्लोक में बताया गया है कि वास्तव में आत्मा को शरीर से भिन्न मानना तभी सार्थक हो सकता है ज़ब कि स्वप्न में भी शरीर और आत्मा के एकपने का ज्ञान न होने पावे।

मोक्ष प्राप्ति में पाप और पुण्य दोनों प्रतिबंधक जानने चाहिये :-

अपुण्यमब्रतैः पुण्यं, ब्रैतर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अब्रतानीव मोक्षार्थी, ब्रतान्यपि ततस्त्यजेत्।।८३।।

अन्वय - अब्रतैः अपुण्यं, ब्रतैः पुण्यं, तयोः व्ययः मोक्ष, ततः मोक्षार्थी अव्रतानि इव ब्रतानि अपि त्येजत्।

अर्थ - हिंसादिक अब्रतों से पाप होता है, अहिंसा आदिक ब्रतों से पुण्य होता है और पुण्य व पाप दोनों के नाश से मोक्ष होता है। इस लिये मोक्ष के इच्छुक पुरुष को अब्रतों की तरफ ब्रतों को भी छोड़ना चाहिये।

भावार्थ - मोक्ष प्राप्ति के लिये जैसे हिंसादिक पाप कार्य प्रतिबंधक हैं उसी तरह अहिंसादिक ब्रत वा दया भाव आदिक पुण्य कार्य भी प्रतिबंधक हैं। इस लिये मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को लोहे व सोने की बेड़ी के समान पाप व पुण्य दोनों को छोड कर केवल अपने शुद्धात्मा के अनुभव में तन्मय होना चाहिये। यहां इतनी बात और जानने की है कि जब तक शुद्धात्मा में तन्मय होने की योग्यता न होवे तब तक पुण्य कार्यों को कदापि नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि यदि शुद्धोपयोग में स्थिर हुए बिना ही शुभोपयोग को छोड़ दोगे तो इन दोनों उपयोगों के न रहने से चित्तवृत्ति पापकार्यों की तरफ झुक जायगी। जिससे आत्मा को और भी अधिक दुःख सहने पडेंगे। इसलिये शुद्धोपयोग के अभाव में अहिंसादिक की भावना रूप शुभोपयोग को ही परंपरा मुक्ति का कारण समझ कर हस्तावलंबन समझना चाहिये।

पाप और पुण्य के त्याग क्ररने का क्रम :-

अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठतः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य, परमं पदमात्मनः।।८४।।

अन्वय - अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठितः आत्मनः परमं पदं सम्प्राप्य तानि अपि त्यजेत्।

अर्थ - हिंसादिक अव्रतों को छोड़कर अहिंसादिक व्रतों में स्थिर होना चाहिये अर्थात् उनको पालन करना चाहिये। पश्चात् राग द्वेष रहित साक्षात् वीतराग पद की प्राप्ति हो जाने पर व्रतों को भी छोड़नां चाहिये। अर्थात् वीतराग दशा प्राप्त होने से पहले अहिंसादिक ब्रतों को नहीं छोड़ना चाहिये।

दुःख का मूल कारण व मोक्ष का बाधक कौन है :-

यदन्तर्जल्पसमपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे, शिष्टमिष्टं परं पदम्।।८५।।

अन्वय - यत् अन्तर्जल्पसम्पृक्तं उत्प्रेक्षाजालं आत्मनः दुःखस्य मूलं, तन्नाशे इष्टं परं पदं शिष्टम्।

अर्थ - अंतरंग बचन व्यापार करके सहित जो अनेक प्रकार का कल्पना जाल है वही वास्तव में आत्मा के लिये दुःख का मूल है इस संकंल्प विकल्प रूप कल्पना जाल के नाश होने पर ही वास्तव में परम पद की प्राप्ति हो सकती है।

भावार्थ - परमानन्दमय चैतन्य चमत्कार स्वरूप निज आत्म द्रव्य को न पहिचान कर जो यह जीव व्यर्थ ही अपने आत्मा को सुखी व दुःखी, राजा-रंक, सबल-निर्बल मानता रहता है तथा इन्हीं बातों को लेकर जो और भी अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करता है यह सब प्रपंच ही इस जीव के संसार में भटकने का मूल कारण है और इस प्रपंच को छोड़ने से ही इसको मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

कल्पना जाल के नाश करने का क्रम :-

अव्रती व्रतमादाय, व्रतज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत्।।८६।।

अन्वय - अव्रती व्रतं आदाय, व्रती ज्ञानपरायणः, परात्मज्ञान-संपन्नः स्वयं एव परः भवेत्।

अर्थ - अव्रती अवस्था में उत्पन्न होने वाली कल्पनाओं को तो व्रत ग्रहण करके नाश करे, और व्रती अवस्था में होने वाली कल्पनाओं को ज्ञान भावना में तन्मय होकर नाश करे, पश्चात् अर्हंत अवस्था में सर्वज्ञ पद प्राप्त करके क्रम से मुक्ति मंदिर में अनन्त काल तक जा निवास करे।

भावार्थ - गृहस्थ अवस्था में, स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादिक के प्रपंच में पडे रहने से जो अनेक प्रकारके इष्टानिष्ट संकल्प-विकल्प उठते रहते है। साधु पद ग्रहण करके पहले तो इन गृहस्थ संबन्धी विकल्पों का त्याग करना चाहिये, पश्चात् साधु अवस्था में भी पीछी-कमण्डलु, शिष्य-प्रशिष्य आदि के निमित्त से जो विकल्प उठते हैं उनको निरन्तर ज्ञानाभ्यास वा आत्मभावना में लीन होकर छोड़ना चाहिये, इसी प्रकार क्रम से शुक्ल ध्यान द्वारा अर्हंत पद प्राप्त कर, सिद्ध पद प्राप्त करना चाहिये।

साधुवेश धारण करने मात्रसे मुक्ति नहीं हो सकती :-

लिंग देहाश्रितं दृष्ट, देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंगकृताग्रहाः।।८७।।

अन्वय - लिंगं देहाश्रितं दृष्टं, देह एव आत्मनः भवः, तस्मात् ये लिंगकृताग्रहाः ते भवात्

न मुच्यन्ते।

अर्थ - जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदिक जो भेष हैं वे सब शरीर के आश्रित हैं और शरीर के निमित्त से ही आत्मा संसारी कहलाता है। इसलिये केवल भेष मात्र से ही मुक्ति प्राप्त करने का आग्रह करने वाले पुरुष संसार से मुक्त नहीं हो सकते।

भावार्थ - बहुत से अज्ञानी साधु दुराग्रह वश सम्यग्ज्ञान, ध्यान आदि के बिना केवल वेश मात्र को ही मुक्ति का कारण मान बैठते हैं, ऐसे पुरुषों को समझाने के लिये आचार्य महाराज कहते है, कि केवल वेश मात्र से मोक्ष प्राप्ति का आग्रह करना मूर्खता है, साधु वेश धारण करके उस पद के योग्य ज्ञान-ध्यान आदि के करने से ही वास्तव में आत्महित हो सकता है। यहा पर एक बात यह और जानने की है कि जिस प्रकार बहुत से अज्ञानी साधुओं को वेश मात्र का पक्ष होता है। ऐसे ही बहुत से दुर्विदग्ध पुरुषों को ज्ञान मात्र का पक्ष भी होता है। अर्थात् जैसे कोई २ पुरुष ज्ञान के बिना साधुवेश मात्र से मुक्ति मंदिर में प्रवेश करने का प्रयास करते हैं वैसे ही बहुत से पुरुष साधु वेश के बिना ज्ञान मात्र से ही मोक्ष प्राप्ति का स्वप्न देखा करते हैं, यह भी ऐसे पुरुषों का केवल भ्रम मात्र है, जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान, मोक्ष प्राप्ति में साधक है उसी प्रकार द्रव्य चारित्र भी साधक है, केवल एकांत मानने का ग्रन्थकार ने निषेध किया है। इसी भाव का एक यह काव्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने समयसार के कलशों में लिखा है-

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा, ज्ञानं न जानन्ति ये।
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं, ज्ञानं भवन्तःस्वयं।
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च।।१।।

अन्वय - जो पुरुष, ज्ञान स्वरूप आत्मा को न जानकर केवल बाह्य क्रियाकांड को ही मुक्ति का कारण जान उसमें ही तन्मय रहते हैं वे संसार में डूबते हैं और जो शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति हुए बिना ही मिथ्या ज्ञान के कुतर्कों में पड़कर व्यवहार चारित्र को सर्वथा छोड़ देते हैं वे भी संसार में ही डूबते हैं। किन्तु जो पुरुष शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर उसमें तन्मय होते हैं अर्थात् जिनके निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रमय एक अभेद रूप परिणति हो जाती है वे संसार से पार होते हैं। वे न तो कर्म ही करते हैं और न प्रमाद के वशीभूत ही होते हैं।

उत्तम जाति में उत्पन्न होने मात्र से मुक्ति नहीं हो सकती :-

जाति र्देहाश्रिता दृष्टा, देह एवाऽऽत्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः।।८८।।

अन्वय - जातिः देहाश्रिता दृष्टा देह एव आत्मनः भवः, तस्मात् ये जातिकृताग्रहाः, ते भवात् न मुच्यन्ते।

अर्थ - ब्राह्मण आदि जातियां शरीर के आश्रित हैं और शरीर ही आत्मा के लिये संसार है इसलिये जिनको जातीय पक्ष का अनुचित दुराग्रह होता है वे संसार से मुक्त नहीं हो सकते। यहां पर भी यह बात विशेष जानने की है कि यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन उत्तम जातियों में उत्पन्न हुए पुरुषों को ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है अन्य को नहीं हो सकती, तथापि मुक्ति प्राप्ति के ज्ञान-ध्यानादि साधन किये बिना ही केवल उत्तम जाति में उत्पन्न होने मात्र से मुक्ति मानना भ्रम है। यहां भी आचार्य महाराज ने ``वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः'' ``काशी मरणान्मुक्तिः'' इस प्रकार मिथ्या एकान्त छुड़ाने के लिये यह श्लोक लिखा है।

मिथ्या शास्त्रों का दुगग्रह करने से भी परमपद की प्राप्ति नहीं होती :-

जातिलिंगविकल्पेन, येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव, परमं पदमात्मनः।।८९।।

अन्वय - येषां जातिलिंगविकल्पेन समयाग्रहः तेऽपि आत्मनः परमं पदं न प्राप्नुवन्त्येव।

अर्थ - जिन पुरुषों को पूर्व में कहे हुए जाति और लिंग के विषय में शास्त्र प्रतिपादित होने का आग्रह है अर्थात् बाह्मणत्व आदि जाति में उत्पन्न होने मात्र से अथवा किसी एक वेश मात्र धारण करने से ही मुक्ति होजाती है इस प्रकार के कथन वाले शास्त्रों को प्रमाण मानकर जो पुरुष अनेक प्रकार के दुराग्रह करते रहते हैं वे भी आत्मा की शुद्ध अवस्था को नहीं प्राप्त हो सकते।

बिना मोह मन्द हुए बाह्य चारित्र कार्यकारी नहीं :-

यत्त्यागाय निवर्त्तन्ते, भोगेभ्यो यदवाप्तयेः
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति, द्वेषमन्यत्र मोहिनः।।९०।।

अन्वय - यत्त्यागाय यदवाप्तये भोगेभ्यः निवर्त्तन्ते, मोहिनः तत्रैव प्रीतिं अन्यत्र द्वेषं कुर्वन्ति।

अर्थ - शरीरादिक परपदार्थों से ममत्व दूर करने के लिए तथा वीतराग अवस्था की प्राप्ति के लिए बहुत से पुरुष विषय-भोगों को छोड़कर साधु होजाने पर भी, पश्चात् मोह के उदय से शरीरादिक में प्रीति व वीतरागता के साधनों से द्वेष करने लगते हैं।

भावार्थ - अन्तरंग राग-द्वेष-मोह के शांत हुए बिना यदि कोई पुरुष किसी उत्तेजना आदि के कारण विषयभोगों को छोड़कर मुनि व्रत भी धारण कर लेता है तो शीघ्र ही फिर पतित होजाता है। ऊपर से मुनि सरीखा वेश रखकर भी वह शरीर में अथवा भोजनादिक में प्रीति रखने लगता है और जिस वीतराग दशाकी प्राप्ति के उद्देश्य से उसने मुनि व्रत लिये थे उससे तथा उसके साधन भूत ज्ञान, ध्यान आदि से पराइंमुख रहने लगता है इसप्रकार मोह के उदय से क्रोधादि अन्तरंग परिग्रहों को न छोड़ सकने के कारण वह दुःखी ही रहता है, इसलिए आत्म हित के इच्छुक पुरुषों को पहले मोह मन्द करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए और जितना २ मोह मंद होता जाय, उतना २ व्यवहार चारित्र बढ़ाते जाना चाहिए।

शरीर में आत्मा के भ्रम होने का दृष्टांत :-

अनंन्तरज्ञः सन्धत्ते, दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके।
संयोगाद् दृष्टिभंगेऽपि, संधतेतंद्वदात्मनः।।९१।।

अन्वय - अनन्तरज्ञः संयोगात् यथा पंगोः दृष्टिं अन्धके संधत्ते तद्वत् आत्मनः दृष्टि अंगे अपि संधत्ते।

अर्थ - लंगडे और अन्धे के भेद को न जानने वाला पुरुष जैसे लंगडे की दृष्टि को अंधे में आरोपित करता है वैसे ही आत्मा और शरीर के भेद को न जाननेवाला पुरुष आत्मा की दृष्टि को शरीर में आरोपित करता है।

भावार्थ - जैसे अंधे के कंधे पर लंगडा चढ़ा हुआ जारहा हो अर्थात् अंधे को लंगडा रास्ता बताता जारहा हो और अंधा अपने पैरों से चलता जारहा हो, ऐसी दशा में कोई पुरुष अपने नेत्रों की मंद ज्योति से यदि लंगडे को न देखकर यह समझे कि यह चलनेवाला पुरुष ही अपनी आंखों से देखकर जारहा है तो वह उस मंद ज्योतिवाले का जानना जिस प्रकार ठीक नहीं है उसीप्रकार आत्मा व शरीर का संयोग होने से जो पुरुष शरीर को ही आत्मा समझता है उनका भी वह ज्ञान ठीक नहीं हैं।

अन्तरात्मा को शरीर में आत्मा का भ्रम नहीं होता :-

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं, पंगोरन्धेन योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे, दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः।।९२।।

अन्वय - दृष्टभेदः यथापंगोः दृष्टिं अन्धे न योजयेत् तथा दृष्टा त्मा आत्मनः दृष्टिं देहे न योजयेत।

अर्थ - लंगडे व अन्धे के भेद को जाननेवाला जैसे लंगडे को अन्धा नहीं समझता है उंसी प्रकार आत्मा व शरीर का भेद जानने वाला पुरुष आत्मा को शरीर नहीं समझता है। अर्थात् जिस पुरुष को अन्धे व लंगडे के भेद की तरह शरीर व आत्मा का भेद मालूम पड जाता है वह शरीर को आत्मा न समझकर ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों के पुंज को आत्मा समझता है।

कौन पुरुष किस अवस्था को भ्रम रूप समझता है :-

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव, विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य, सर्वावस्थात्मदर्शिनः।।९३।।

अन्वय - अनात्मदर्शिनां सुप्तोन्मत्ताद्यवस्था एवं विभ्रमः आत्मदर्शिनः अक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाविभ्रमः अथवा-आत्मदर्शिनासुप्तोन्मत्ताद्यवस्था एव-``अपि, विभ्रमः न, सर्वावस्थात्मदर्शिनः अक्षीण दोषस्य विभ्रमः।

अर्थ - आत्मस्वरूप को न जानने वाले बहिरात्मा पुरुषों को केवल सुप्त उन्मत्त अवस्था ही भ्रम रूप मालूम देती है किन्तु आत्मदर्शी पुरुष को रोगी पुरुषों की सर्व ही अवस्थायें भ्रम रूप मालूम देती हैं। अथवा इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह है कि आत्मदर्शी पुरुषोंकी सुप्त (निद्रावस्था) व उन्मत्त अवस्था भी भ्रम रूप नहीं होती, और देहादि की सम्पूर्ण अवस्थाओं को आत्मा की अवस्थायें जानने वाले रागी पुरुष की सुप्त व उन्मत्त सर्व ही अवस्था भ्रम रूप होती हैं।

भावार्थ - व्यवहारी जन तो स्वप्न के ज्ञान को या उन्मत्त पागल पुरुष के ज्ञान को या उसकी क्रियाओं को ही मिथ्या समझते हैं किन्तु आत्मदर्शी पुरुष, प्रपंच में इंसे हुए बहिरात्मा पुरुषों की समस्त क्रियाओं को ही भ्रम रूप समझते हैं क्योंकि व्यवहारी जन चाहे शुभ कार्य करें चाहे अशुभ कार्य करें कोई भी कार्य उनका राग-द्वेष के बिना नहीं होता,

और जिन कार्यो में राग-द्वेष लगा हुआ है वे सब कार्य परमार्थ दृष्टि से भ्रम रूप हैं आत्मस्वभाव नहीं है, इसीसे आत्मदर्शी पुरुष व्यवहारी जीवों के समस्त कार्यों कों भ्रम रूप समझते हैं। दूसरा अर्थ संस्कृत टीका में इस श्लोक का यह भी दिया है कि आत्मदर्शी पुरुषों की सुप्त व उन्मत्तादि अवस्था भ्रम रूप नहीं होती क्योंकि जो पुष्प आत्मरस में भींगे हुए हैं अथवा यों कहिये, कि जिनको परमानन्द भय आत्मिक सुधारस के पान करने का अभ्यास पड गया है। उनको जब इन्द्रियों की शिथिलता से निद्रा आ जाती है अथवा खान-पान की प्रतिकूलता व रोग आदि से कदाचित् मूर्च्छा भी आ जाती है तो भी उनकी आत्मानुभव की वासना नहीं छूटती। इसलिये ऐसे आत्मदर्शी पुरुषों की सुप्त व उन्मत्त अवस्था भी भ्रमरूप नहीं होती, यादि वे सुप्त व उन्मत्त अवस्थायें भ्रम रूप होती हैं तो शरीरादिक बाह्य पदार्थों की समस्त अवस्थाओं को आत्मरूप समझने वाले बहिरात्मा पुरुषों की ही होती हैं।

कर्म-बन्ध किससे छूटता है और किससे नहीं छूटता :-

विदिताऽशेषशास्त्रोऽपि, न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिज्ञार्तात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपिमुच्यते।।९४।।

अन्वय - देहात्मदृष्टिः विदिताशेषशास्त्रः अपि, जाग्रत् अपि न मुच्यते, ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तः अपि मुच्यते।

अर्थ - जिस पुरुष की शरीरादिक बाह्य पदार्थों में आत्मदृष्टि है वह सम्पूर्ण शास्त्रों को जानता हुआ तथा जागता हुआ भी कर्म-बंधन से नहीं छूटता और जो पुरुष आत्म ज्ञानी है उसके सोते हुए भी तथा मूर्छित अवस्था में भी कर्म निर्जरा होती रहती है।

भावार्थ - शरीर व आत्मा के भेद ज्ञान विना कोरा तोते की तरह रट कर प्राप्त किया शास्त्र ज्ञान आत्म हित का साधक नहीं है और आत्म ज्ञान होने पर सुप्त व मूर्च्छित अवस्था भी आत्मा की हानि करने में समर्थ नहीं है।

मन किस वस्तु में लीन होता है :-

यत्रैऽऽवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्तं तत्रैव लीयते।।९५।।

अन्वय - पुंसः यत्र एव आहितधीः तत्र एव श्रद्धा जायते, यत्र एव श्रद्दा जायते, तत्र एव चित्तं लीयते।

अर्थ - पुरुष की जिस पदार्थ में बुद्धि लग जाती है उसी में उसको श्रद्धा उत्पन्न हो जातीहै और जिस पदार्थ में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है उसी में उसका मन रम जाता है।

भावार्थ - जिस पुरुषको जो वस्तु प्रिय मालूम देती है उसी वस्तु को ग्रहण करने की उस पुरुष की इच्छा होती है और जिस के ग्रहण करने की इच्छा होती है उसी वस्तु में उसका मन हर समय लीन होता है। इस नियम के अनुसार जिस पुरुष को आत्म अनुभव करना अच्छा लगता है उसको आत्मानुभव करते रहने की ही निरंतर इच्छा रहती है और इसी कारण उसका मन आत्मानुभव में ऐसा तन्मय रहता है कि स्वप्न में भी आत्मानुभव से अलग होना नहीं चाहता। इसके विरुद्ध जिस पुरुष को विषयों से प्रीति है उसका मन निरंतर विषयों में ही फंसा रहता है और इसी कारण यदि उसको शास्त्र ज्ञान भी हो जाता है तो वह कार्यकारी नहीं होता।

मन किस वस्तु से उदास नहीं होता :-

यत्रैवाहितधीः पुंसः, श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्त्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः।।९६।।

अन्वय - पुंसः यत्र एव अहितधीः तस्मात् श्रद्धा निवर्त्तते, यस्मात् श्रद्धा निवर्त्तते चित्तस्य तल्लयः कुतः।

अर्थ - पुरुष की जिस वस्तु में अनुपकारक बुद्धि होती है अर्थात् जिस वस्तु को वह हितकारी नहीं समझता, उस वस्तु में उसकी रुचि नहीं होती, और जिस वस्तु में रुचि ही नहीं है उस वस्तु में मन कैसे लग सकता है ? अर्थात्-जैसे किसी पुरुष को यदि विषय-कषायों से बचना हो, तो पहले उसे विषय-कषायों को दुःखदाईं समझना चाहिये, क्योंकि जब उसकी बुद्धि में विषय कषाय दुःखदाई मालूम देने लगेंगे तब स्वयं ही उसकी रुचि उनसे हट जायगी, और रुचि हटने से मन विषय-कषायों के सेवन करने से उदास हो जायगा।

ध्येय को ध्याता से भिन्न मानकर भी ध्यान करना उत्तम ही है :-

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा, परोभवति तादृशः।
वर्त्तिर्दीपं यथोपास्य, भिन्ना भवति तादृशी।।९७।।

अन्वय - आत्मा भिन्नात्मानं उपास्य तादृशः परः भवति. यथा भिन्ना वर्त्तिः दीपं उपास्य

तादृशी भवति।

अर्थ - यह जीव अपने से भिन्न अर्हंत-सिद्ध स्वरूप परमात्मा की उपासना करके उनही सरीखा अर्हंत-सिद्ध रूप परमात्मा हो जाता है जैसे कि बत्ती, दीपक से भिन्न होकर भी दीपक की उपासना से दीपक स्वरूप हो जाती है।

भावार्थ - परमात्मा को भिन्न मानकर भी उसका ध्यान-मनन आदि करो तो भी आत्मशुद्धि होती है। यहां ग्रंथकार का आशय यह है कि जबतक ``जो परमात्मा है वही मैं हूं।'' और ``जो मैं हूं, वही परमात्मा है।'' इस प्रकार ३१ वें श्लोक में कहे अनुसार ध्याता-ध्यान-ध्येय को एक रूप मानकर ध्यान करने की योग्यता न होवे तबतक ध्याता-ध्याय की भेद-भावना से ध्यान करने को भी हेय नहीं समझना चाहिये, किन्तु भेद-भावना से किये हुए ध्यान के द्वारा भी आत्मा का बहुत हित होता है, यही समझना चाहिये।

ध्येय को ध्याता से अभिन्न मानकर ध्यान करने का, दृष्टांत पूर्वक समर्थन :-

उपास्यात्मानमेवात्मा, जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव, जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।९८।।

अन्वय - अथवा आत्मा आत्मानं एव उपास्य परमः जायते, यथा तरुः आत्मा आत्मानं एव मथित्वा अग्निः जायते।

अर्थ - अथवा आत्मा अपनी ही उपासना करके वैसे ही परमात्मा हो जाता है। जैसे बांस खुद के साथ ही रगड़ खाने से अग्नि रूप हो जाता है।

भावार्थ - यदि आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को ही ध्येय समझ कर उसमें ही तन्मय होकर अभेदरूप से ध्यान करता है तो परमात्मपद प्राप्त कर लेता है। जैसे कि बांस, बांस के साथ ही रगड़ खाने से अग्निरूप हो जाता है।

भेदाभेद का उपसंहार :-

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदम्।
स्वतएव तदाप्नोति, यतोनाऽऽवर्त्ततेपुनः।।९९।।

अन्वय - इति इदं नित्यं भावयेत्, स्वतः एव तत् आवाचां गोचरं पदं आप्नोति यतः पुनः न आवर्त्तते।

अर्थ - अब आचार्य महाराज भेदाभेद का उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि आत्म

स्वरूप को भिन्न रूप अथवा अभिन्नरूप मानकर निरन्तर भावना करनी चाहिये। जिससे कि स्वयं ही वचन के अगोचर उस परमात्मपद की, प्राप्ति हो जातीहै जहां से फिर वापिस-लौटना आना नहीं होता।

आत्मा भूतचतुष्टय से उत्पन्न नहीं है और संसार अवस्था में सर्वथा शुद्ध नहीं है :-

अयत्नसाध्यं निर्वाणं, चित्तत्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न, दुःखं योगिनां क्वचित्।।१००।।

अन्वय - यदि चित्तत्वं भूतजं ``तर्हि'' निर्वाणं अयत्नसाध्यं अन्यथा योगतः तस्मात् योगिनां क्वचित् दुःखं न।

अर्थ - यदि कदाचित चैतन्यस्वरूप आत्म तत्त्व की उत्पत्ति चार्वाक के मतानुसार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों से ही मानली जाय तो फिर मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने की कुछ आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जब भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुआ शरीर ही आत्मा मान लिया गया तो शरीर के नाश को ही मोक्ष मानना पड़ेगा और जब शरीर का नाश, आयु समाप्त होने पर स्वयं ही हो ज़ाता है तब फिर उसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ सिद्ध होता है। इसलिये मोक्ष पुरुषार्थ के ध्यान में रखते हुए चार्वाक की इस मन-गढ़न्त कल्पना को ठीक नहीं समजना चाहिये। दूसरे यदि चैतन्य स्वरूप आत्मा को सांख्यमत के अनुसार सर्वथा स्वभावसिद्ध शुद्ध स्वरूप ही मान लिया जाय तो भी मोक्ष प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि आत्मा की अशुद्ध रूप संसार अवस्था से शुद्ध रूप मोक्ष अवस्था के प्राप्त करने के लिये ही ज्ञान-ध्यान, जप-तप आदि पुरुषार्थ या उद्योग की आवश्यकता होती है और यदि आत्मा को अनादि से ही सर्वथा शुद्ध स्वरूप मान लिया जाय तो फिर मोक्ष प्राप्ति के लिये किया हुआ सब परिश्रम व्यर्थ पड जाता है, इसलिये सांख्यमत का कथन भी युक्ति संगत नही जाननां चाहिए। हां, यदि जीवन्मुक्त रूप अरहन्त अवस्था की अपेक्षा आत्मतत्त्व को शुद्धस्वरूप माना ज़ाय तो यह बात बन सकती है और इस दशा में मोक्ष अप्रयत्न सिद्ध बन सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ रूप अरहन्त केवली का आत्मा भी शुद्ध होजाता है और मोक्ष प्राप्ति के लिए अब वे कोई बुद्धि पूर्वक प्रयास भी नहीं करते, इसलिए उनकी मुक्ति भी अरहन्त अवस्था की अपेक्षा विना प्रयत्न के कही जा सकतीहै, इसके अतिरिक्त अरहन्त अवस्था से नीचे के गुणस्थान

वाले जो मुनि हैं उनको ध्यानादिक के करने से ही अरहन्त अवस्था पूर्वक मुक्ति प्राप्त होती है इसलिए मुक्ति के लिए प्रयत्न करना भी आवश्यक सिद्ध होता है। यहां कदाचित् यह शंका हो सकती है कि प्रयत्नसिद्ध मुक्ति मानने में तो प्रयत्न करते समय कष्ट भोगना पडेगा और जिस कार्य के करने में प्रथम ही कष्ट भोगना पडे, उसमें पीछे से सुख क्या मिल सकता है ? इस प्रश्न का खुलासा उत्तर यही है कि मुक्ति प्राप्ति के लिए कठिन से कठिन तप व ध्यान आदि करते हुए भी महर्षिजन खेद नहीं मानते किन्तु अपने लक्ष्य की सिद्धि होते देख तप-ध्यान आदि करने में आनंद मानते हैं, क्योंकि वे शरीर को आत्मा से भिन्न समझते हैं इसलिये शरीर के कृश होने से उनको खेद नहीं होता।

शरीरके नाश होनेपर आत्मा नाश नहीं होता :-

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि, न नाशोऽस्तियथाऽऽत्मनः
तथा जागरदष्टेऽपि, विपर्यासाऽविशेष।।१०१।।

अन्वय - स्वप्ने दृष्टे विनष्टे अपि यथा आत्मनः नाशः न अस्ति, तथा, ज़ागरदृष्टे अपि, विपर्यासाऽविशेषः।

अर्थ - स्वप्न में शरीर के नाश होने पर भी जैसे आत्मा का नाश नहीं होता, उसी प्रकार ज़ागृत अवस्था में भी शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता।

यहां यह शंका हो सकती है कि स्वप्न में तो भ्रम से शरीर के नाश के साथ आत्मा का नाश मालूम पड़ता है ? इस के उत्तर में जागृत अवस्था में भी शरीर के नाश के साथ आत्मा के नाश को भ्रमरूप ही समझना चाहये, क्योंकि जैसे झोंपड़ी के जल जाने पर भी आकाश नहीं जलता वैसे ही शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। हां ! स्वप्न अवस्था में शरीर का भी नाश भ्रम रूप है। जागृत अवस्था में मरते समय शरीर के परमाणु बिखर कर अवश्य अलग-अलग हो जाते हैं अर्थात् उनकी शरीररूप स्कन्ध पर्याय वास्तव में नष्ट हो जाती है। किन्तु आत्मा का अभाव दोनों अवस्थाओं में नहीं होता। आत्मा की सिद्धि अष्टसहस्त्री, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि ग्रंथों में विस्तार पूर्वक की है। यहां खंडन मंडन के विषय पर दृष्टि नहीं दी गई है।

कायक्लेशादि करके आत्मा को शरीर से भिन्न जानने का अभ्यास करना चाहिये :-

अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखेरात्मानं भावयेन्मुनिः।।१०२।।

अन्वय - अदुःखभावितं ज्ञानं दुःखसन्निधौ क्षीयते, तस्मात् यथाबलं आत्मानं दुःखैः भावयेत्।

अर्थ - सुकुमारता पूर्वक, बिना काय-क्लेश आदि तप किये जो शरीर व आत्मा का भेदज्ञान होजाता है वह उपसर्ग, परीषह आदि कष्टों के आने पर नष्ट हो जाता है। इसलिये मुनि-जनों को यथाशक्ति कायक्लेश आदि तप करके ही शरीरसे भिन्न आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिये।

भावार्थ - जिसको अनेक प्रकार के भयंकर कष्टों के आने पर भी शरीर का मोह उत्पन्न न होवे, वही वही सच्चा भेदज्ञानी समझा जा सकता है और यह बात तभी हो सकती है जब शरीर को स्वयं अनेक प्रकार के कष्ट देकर निराकुल रहने का अभ्यास किया जावे।

आत्मा के चलने पर शरीर क्यों चलता है :-

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेष प्रवर्त्तितात्।
वायोः शरीरयन्त्राणि, वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु।।१०३।।

अन्वय - इच्छाद्वेषप्रवर्त्तितात् आत्मनः प्रयत्नात् वायुः ``चलति'', वायोः शरीरयन्त्राणि स्वेषु कर्मसु वर्तन्ते।

अर्थ - राग द्वेष से उत्पन्न हुए आत्मा के प्रयत्न से शररी के भीतर वायु चलती वायु चलती है और वायु के चलने से शरीर व इन्द्रियरूपी यन्त्र अपना २ कार्य करने लगते हैं।

भावार्थ - यहां पर किसी की यह शंका थी कि जब शरीर व आत्मा बिल्कुल भिन्नं २ पदार्थ हैं तब आत्मा की इच्छा के आधीन शरीर का गमन क्यों होता है ? अथवा जिधर को आत्मा जाता है, जीवित अवस्था में उधर को ही शरीर क्या जाता है ? इसी शंका के उत्तर में यह श्लोक लिखा गया है कि पहले आत्मा से राग-द्वेष के वश प्रयत्न पैदा होता है, यह प्रयत्न शरीर के भीतर की वायु को इच्छित स्थान की तरफ को चलाता हैं और वायु रेलगाडी की तरह शरीर को उधर ही खैंच कर ले जाती है।

शारीरिक क्रियाओं में बहिरात्मा ही सुख मानता है :-

तान्यात्मनि समारोप्य, साक्षाण्यास्ते सुख जडः।
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान, प्राप्नोति परमं पदम्।।१०४।।

अन्वय - जडः साक्षाणि तानि आत्मानि समारोप्य सुधं आस्ते, विद्वान् पुनः आरोपं त्यक्त्वा परम पदम् प्राप्नोति।

अर्थ - मूर्ख पुरुष इन्द्रियों सहित उन औदारिकादि शरीरों को आत्मा मानकर सुख मानता है और ज्ञानी पुरुष, शरीर व इन्द्रियों में आत्मा का संकल्प त्यागकर परमपद को पाता है। अर्थात् मूढ़ बहिरात्मा, शरीर व इंद्रियों की अनेक क्रियाओं को आत्मा की ही क्रिया जानकर सुख मानता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसा नहीं मानते हैं।

उपसंहार :-

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च, संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम्।।१०५।।

अन्वय - तन्मार्गं एतत् समाधितन्त्रं अभिगम्य परात्मनिष्ठः संसारदुःखजननीं परत्र परबुद्धिं अहंधियं च मुक्त्वा जननाद् विमुक्तः ज्योतिर्मयं सुखं उपैति।

भावार्थ - ग्रन्थकर्ता श्रीपूज्यपाद स्वामी ग्रंथ का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि परमानन्दमय शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के उपायभूत इस शांतिमय आत्मस्वरूप के प्रतिपादक समाधितन्त्र शास्त्र को जानकर परमात्मा की भावना में स्थित पुरुष संसार के दुःखो को उत्पन्न करने वाली पर पदार्थें में परमात्मबुद्धि व आत्मबुद्धि को त्यागकर संसार से मुक्त होता है और ज्ञाननन्दमय सुखनिधि स्वरूप परमात्मपद को प्राप्त होता है।

।। इतिशुभम् ।।

समाधि-शतक

की

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	अ	
अविद्या संज्ञितस्तस्मात्	१२	९९
अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वम्	३६	१११
अविद्याभ्याससंस्कारैः	३७	११२
अपमानादयस्तस्य	३८	११२
अचेतनभिदंदृश्यम्	४६	११६
अज्ञापितं न जानन्ति	५८	१२२
अपुण्यमव्रतैः पुण्यम्	८३	१३२
अव्रतानि परित्यज्य	८४	१३३
अव्रतीव्रतमादाय	८६	१३४
अनन्तरज्ञः सन्धत्ते	९१	१३७
अयत्नसाध्यं निर्वाणम्	१००	१४२
अदुःखभावितं ज्ञानम्	१०२	१४४
	आ	
आत्मदेहान्तरं ज्ञानम्	३४	११०
आत्मविभ्रमजं दुःखम्	४१	११३
आत्मज्ञानात्परं कार्यम	५०	११८
आत्मन्येवात्मधीरन्याम्	७७	१२९
आत्मानमन्तरे दष्ट्वा	७९	१३०
	इ	
इतीदं भावयेन्नित्यम्	९९	१४१

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	उ	
उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः	२१	१०३
उपास्यात्मानमेवात्मा	९८	१३६
	ए	
एवं त्यकत्वा बहिर्वाचम्	१७	१०१
	घ	
घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानम्	६३	१२४
	च	
चिरं सुषुप्तास्तमसि	५६	१२१
	ग	
ग्रामोरण्यामितिद्वेधा	७३	१२८
गौरःस्थूलः कृशोवाऽहम्	७०	१२७
	ज	
जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती	२	९५
जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वम्	४५	११५
जगद्देहात्मदृष्टीनाम्	४९	११७
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानम्	६४	१२४
जनेभ्यो वाक्ततः स्पन्दः	७२	१२७
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा	८८	१३६
जातिलिंगविकल्पेन	८९	१३६
	त	
त्यागादाने बहिर्मूढः	४७	११६
तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्	५३	११९
तथैव भावयेद् देहान्	८२	१३२
त्यक्त्वैव बहिरात्मानम्	२७	१०६
तान्यात्मनि समारोप्य	१०४	१४५

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	द	
देहे स्वबुद्धिरात्मानम्	१३	९९
देहेष्वात्माधिया जाता	१४	१००
देहान्तरागतेर्बीजम्	७४	१२८
दश्मानमिदं मूढ़ाः	४४	११५
दृढात्मबुद्धिर्देहादौ	७६	१२९
दृष्टभेदो यथादृष्टि	९२	१३८
	न	
निर्मलः केवलः शुद्धः	६	९७
नरदेहस्थमात्मानम्	८	९८
नारकं नारकांगस्थम्	९	९८
न तदस्तीन्द्रियार्थेषु	५५	१२०
न जानन्ति शरीराणि	६१	१२३
नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानम्	६६	१२४
नयत्यात्मानमात्मैव	७५	१२८
	प	
प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहम्	३२	१०९
पश्येन्निरतरं देहम्	५७	१२१
प्रविशद्गलतां व्यूहे	६१	१२६
पूर्व दृष्टात्मतत्त्वस्यं	८०	१३१
प्रयत्नादात्मनो वायुः	१०३	१४४
परत्राहम्मतिः स्वस्मात्	४३	११४
	ब	
बहिरन्तः परिश्चेति	४	९६
बहिरात्मा शरीरादौ	५	९७

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
बहिरात्मेन्द्रियद्वारैः	७	९७
बहिस्तुष्यति मूढात्मा	६०	१२३
	भ	
भिन्नात्मानमुपास्याता	९७	१४०
	म	
मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः	१६	१०१
मामश्यन्नयं लोको	२६	१०६
मूलं संसार दुःखस्य	१५	१००
मूढात्मायत्रविश्वस्तः	२९	१०७
मुक्तिरेकान्तकी तस्य	७१	१२७
मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहं धियं च	१०५	१४५
	य	
येनात्मावबुध्यतात्मैव	१	९५
यन्मया दृश्यते रूपम्	१८	१०२
यत्परैः प्रतिपाद्योऽहम्	१९	१०२
यद्ग्राह्यं न गृह्णाति	२०	१०३
यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ	२२	१०४
येनात्मनाऽनुभूयेऽहम्	२३	१०४
यदभावे सुषुप्तोहम्	२४	१०५
यः परात्मा स एवाहम्	३१	१०८
यो न वेत्ति परं देहात्	३३	१०९
यदा मोहात्प्रजायेते	३९	११२
यत्र काये मुनेः प्रेम	४०	११३
युञ्जीत मनसाऽत्मानम्	४८	११७
यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे	५१	११८

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
यद्बोधयितुमिच्छामि	५९	१२२
यस्य सस्पन्दमाभाति	६७	१२५
यदन्तर्जल्प संपृक्तम्	८५	१३३
यत्यागाय निवर्तन्ते	९०	१३६
यत्रैऽऽवाहितधीः पुंसः	९५	१३९
यत्रैवाहितधीः पुंस	९६	१४०
	र	
रागद्वेषादिकल्लोलैः	३५	११०
रक्ले वस्त्रेयथात्मानम्	६५	१२४
	ल	
लिंग देहाश्रितं दृष्टम्	८७	१३४
	व	
विदिताऽशेषशास्त्रोऽपि	९४	१३९
व्यवहारे सुषुप्तो यः	७८	१३०
	स	
स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा	१०	९८
स्वपराध्यवसायेन	११	९९
सोऽहमित्यात्तसंस्कारः	२८	१०७
सर्वेन्द्रियाणि संयम्य	३०	१०८
सुखपारब्धयोगस्य	५२	११९
स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात्	६२	१२४
सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव	९३	१३८
स्वप्नेदृष्टे विनष्टेऽपि	१०१	१४३
	श	
श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्तिः	३	९६

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
शुभं शरीरं दिव्यांश्च	४२	११४
शरीरे वाचि चात्मानम्	५४	१२०
शरीरं कंचुकेनात्मा	६८	१२५
श्रृणवन्नप्यन्यतः कामम्	८१	१३१
	क्ष	
क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्याः	२५	१०५

।।श्री परमानन्दाय नमः।।

परमानन्द स्त्रोत्र

भाषानुवाद सहित

—◆○◆○◆○◆—

परमानंदसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम्।।१।।

अन्वय - ध्यानहीनाः परमानन्द संयुक्तं निर्विकारं निरागमयं निज देहे व्यवस्थितम् न पश्यन्ति।

अर्थ - परमानन्द युक्त, रागादिक विकारो से रहित, ज्वरादिक रोगों से मुक्त और निश्चय नयसे अपने शरीर में ही विराजमान परमात्मा को ध्यानहीन पुरुष नहीं देखते हैं।

अनंतसुखसंपन्नं, ज्ञानामृतपयोधरम्।
अनंतवीर्यसंपन्न, दर्शनं परमात्मनः।।२।।

अन्वय - अनंतसुखसंपन्नं ज्ञानामृतपयोधरं अनन्तवीर्यसंपन्नं परमात्मनः दर्शनं करणीयमम्।

अर्थ - अनन्त सुखविशिष्ट, ज्ञानरूपी अमृतसे भरे हुए समुद्र के समान और अनन्त बलयुक्त परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिये, उसके स्वरूप का ही अवलोकन करना चाहिये।

निर्विकारं निराबाधं, सर्वसंगविवर्जितम्।
परमानंदसम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम्।।३।।

अन्वय - निर्विकारं निराबाधं सर्वसंगविवर्जितं परमानन्द संपन्न शुद्ध चैंतन्यं लक्षणं विज्ञेयम्।

अर्थ - रागादिक विकारों से रहित, अनेक प्रकार की सांसारिक बाधाओं से मुक्त, सम्पूर्ण परिग्रहों से शून्य, परमानन्द विशिष्ट शुद्ध केवलज्ञान रूप चैतन्य ही परमात्मा का लक्षण मानना चाहिये।

उत्तमा स्वात्मचिंतास्यान्मोहचिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात्, परचिंताऽधमाधमा।।४।।

अन्वय - स्वात्मचिन्ता उत्तमा, च मोहचिन्ता मध्यमा, काम चिन्ता अधमा तथा परचिन्ता अधमाधमास्यात्।

अर्थ - अपनी आत्मा के उद्धार की चिंता करना उत्तम चिंता है, प्रकृष्टमोह अर्थात् शुभराग वश दूसरे जीवों के भले करने की चिंता करना मध्यम चिंता है, काम भोगकी चिंता करना अधम चिंता है और दूसरों के अहित करने का विचार करना अधम से अधम चिंता है।

निर्विकल्पसमुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकमंजुलिं कृत्वा तत्पिबंति तपस्विनः।।५।।

अन्वय - यत् निर्विकल्पसमुत्पन्नं ज्ञानभेव सुधारसं तत् तपस्विनः विवेकं अंजुलिं कृत्वा पिबंति।

अर्थ - आत्मा के असली स्वरूप को बिगाड़ने वाले अनेक प्रकार के संकल्पविकल्पों को नाश करने से जो ज्ञानरूपी अमृत उत्पन्न होता है उसको तपस्वी महात्मा ही विवेक रूपी अंजुलि से पीते हैं।

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति, स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं, परमानन्दकारणम्।।६।।

अन्वय - यः जीवं सदानन्दमयं जानाति सः पण्डितः सः एव परमानन्दकारणं निजात्मानं सेवते।

अर्थ - जो पुरुष निश्चय नय से सदा ही आत्मा में रहने वाली परमानन्द दशा को जानता है वही वास्तव में पंडित है और वही पुरुष अपनी आत्मा को परमानन्दा का कारण समझ कर वास्तव में उसकी सेवा करता है।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः।।७।।

अन्वय - यथा नीरं नलिन्यां सर्वदा भिन्नं तिष्ठति तथा अयं आत्मा देहे स्वभावेन भिन्नः

निर्मलः तिष्ठति।

अर्थ - जैसे कमल पत्र के ऊपर पानी की बूंद कमल से हमेशा भिन्न रहती है, उसी प्रकार यह निर्मल आत्मा शरीर के भीतर रह कर भी स्वभाव की अपेक्षा शरीर से सदा भिन्न ही रहता है अथवा कार्माण शरीर के भीतर रह कर भी कार्माण शरीरजन्य रागादि मलों से सदा अलिप्त रहता है।

द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं भावकर्मविवर्जितम्।
नोकर्मरहितं विद्धि, निश्चयेन चिदात्मनः।।८।।

अन्वय - निश्चयेन चिदात्मनः द्रव्यकर्ममलैर्युक्तं भावकर्मविवर्जितं नोकर्मरहितं विद्धि।

अर्थ - इस चैतन्य आत्मा का स्वरूप निश्चय करके ज्ञानावरणदि रूप द्रव्यकर्मों से शून्य, रागादिरूप भाव कर्मों से रहित व औदारिक वैक्रियिक आदि शरीररूप नोकर्मे से रहित जानना चाहिये।

आनन्दं ब्रह्मणेरूपं, निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्।।९।।

अन्वय - जात्यन्धाः भास्करं इव ध्यानहीनाः ब्रह्मणः आनन्द रूपं निजदेहे व्यवस्थितमपि न पश्यन्ति।

अर्थ - जैसे जन्म से ही अन्धा रहनेवाला पुरुष सूर्य को नहीं जानता वैसे ही ध्यानहीन पुरुष, परम ब्रह्म रूप परमात्मा के आनन्द मय स्वरूप को जो कि शरीर के भीतर ही पाया जाता है, नहीं जान पाते हैं।

तद्ध्यानं क्रियते भव्यैर्मनोयेन विलीयते।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं चिच्चमत्कारलक्षणम्।।१०।।

अन्वय - भव्यैः येन मनो विलीयते तत्ध्यानं क्रियते। यतः यस्मिन् समये ईदृशं ध्यानं जायते तत्क्षणं शुद्धं चिच्चमत्कारलक्षणं दृश्यते।

अर्थ - मोक्ष के इच्छुक भव्य जीवों को वही ध्यान करना चाहिये जिसके द्वारा यह चंचल मन स्थिर होकर परमानन्द स्वरूप में विशेष रूप से लीन हो जावे, क्योंकि जिस समय इस प्रकार का ध्यान होता है उसी समय चैतन्यचमत्कार स्वरूप परमात्मा का साक्षात् दर्शन होता है।

ये ध्यानशीला मुनयः प्रधानास्तेदुखहीना नियमाद्भवन्ति।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्वम्, व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव।।११।।

अन्वय - ये मुनयः ध्यानशीलाः प्रधानाः ते नियमात् दुःख हीनाः भवन्ति तथा परमात्मतत्वं शीघ्रं सम्प्राप्य क्षणमेकमेव मोक्षं व्रजन्ति।

अर्थ - जिन मुनियों का उत्तम ध्यान करना ही स्वभाव पड़ गया है वे मुनिपुंगव कुछकाल में ही नियम से सर्वदुःखों से छूट जाते हैं तथा अर्हंत स्वरूप परमात्मपद को प्राप्त कर, बाद में अयोग केवली होंकर क्षणमात्र में ही अष्टकर्म रहित अविनश्वर मोक्षधाम में सदा के लिये जा विराज़मान होते हैं।

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वम्, समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तम्।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यम्, जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम्।।१२।।

अन्वय - नित्यं स्वभावलीनाः मुनयः समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तं आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं निवसन्ति योगी स्वयमेंव तत्त्वं जानाति।

अर्थ - निज स्वभावमें लीन हुए मुनि ही परमात्माके, समस्त संकल्पों से रहित, परमानंदमय स्वरूप में निरंतर तन्मय रहते हैं। और इस प्रकार के योगी महात्मा ही आगे कहे जावेवाले परमात्मस्वरूप को स्वयं जानते हैं।

परमात्म-स्वरूप :-

चिंदानन्दमयं शुद्ध निराकारं निरामयम्।
अनन्तसुखसम्पन्नं सर्वसगंविवर्जितम्।।१३।।
लोकमात्रप्रमाणोऽयं निश्चये न हि संशयः।
व्यवहारे तनूमात्रः कथितः परमश्वेरैः।।१४।।

अन्वय - परश्वरैः चिदानन्दमयं शुद्धं निराकारं निरामयम् अनन्तसुखसम्पन्नं सर्वसंगविवर्जितं कथितम्, निश्चये अयं लोकमात्र प्रमाणः अत्र संशयः नास्ति, व्यवहारे अयं तनूमात्र कथितः।

अर्थ - श्री सर्वज्ञ देव ने परमात्मा का स्वरूप चिदानंदमय शुद्ध रूप-रस, गंध स्पर्श से रहित, आकार से रहित, अनेक प्रकार के रोगों से सर्वथा शून्य, अनंतसुख विशिष्ट व सर्व परिग्रह रहित बताया है निश्चय नयसे आत्मा (जीवात्मा व परमात्मा) का आकार लोकाकाश

के समान असंख्यात प्रदेशी है इस बात में कोई संदेह नहीं है तथा व्यवहार नय से कर्मोदय से प्राप्त छोटे बडे शरीर के समान बताया गया है।

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं तत्क्षणं गतविभ्रमः।
स्वस्थचितः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्पसमाधिना।।१५।।

अन्वय - निर्विकल्पसमाधिना स्थिरीभूत्वा यत्क्षणं शुद्धं दृश्यते तत्क्षणं गतविभ्रमः स्वस्थचित्तः भवति।

अर्थ - इस प्रकार उपर कहे दुए परमात्मा के स्वरूप को योगी पुरुष जिस समय निर्विकल्प समाधि के द्वारा (ध्याता ध्येय ध्यान की अभिन्न रूप एक अवस्था हो जाने से) जान लेता है उस समय उस योगी का चित्त रागादि जन्य आकुलता से रहित स्थिर होता है और उसकी आत्मा को अनादि काल से भ्रम में डालने वाले अज्ञानरूपी पिशाच का नाश हो जाता है। उस समय वह निश्चल योगी ही आगे कहे जाने वाले विशेषणों से विशिष्ट हो ज़ाता है।

निर्विकल्पसमाधि होने पर आत्मा किन विशेषणों वाला हो जाता :-

स एव परमं ब्रम्ह, स एव जिनपुंगवः।
स एव परमं तत्त्वं, स एव परमो गुरुः।।१६।।
स एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः।
स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मनः।।१७।।
स एव सर्वकल्याणं, स एव सुखभाजनम्।
स एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमः शिवः।।१८।।
स एव परमानन्दः, स एव सुखदायकः।
स एव परचैतन्यं, स एव गुणसागरः।।१९।।

अन्वय - स एव परमं ब्रह्म स एव जिनपुंगवः, स एव परमं तत्वं, स एव परमो गुरुः। स एव परमं ज्योतिः। स एव परमं तपः स एव परमं ध्यानं स एव परमात्मनः। स एव सर्वकल्याणं, स एव सुखभाजनम्, स एव शुद्धचिद्रूपं स एव परमः शिवः। स एव परमानन्दः स एव सुखदायकः, स एव परचैतन्यं स एव गुणसागरः।

अर्थ - वह परमध्यानी योगी मुनि ही परमब्रह्म, तथा घातिया कर्मों को जीतने से जिन, शुद्धरूप हो जाने से परम आत्मतत्त्व, जगत मात्र के हित का उपदेशक हो जाने से परमगुरु, समस्त पदार्थो के प्रकाश करने वाले ज्ञान से युक्त हो जाने से परमज्योति, ध्यान ध्याता के अभेदरूप हो जाने से शुक्लध्यान रूप परमध्यान, व परम तप रूप परमात्मा के वास्तविक स्वरूपमय हो जाता है तथा वही परमध्यानी मुनि ही सर्व प्रकार के कल्याणों से युक्त, परमसुख का पात्र, शुद्ध चिद्रूप, परम शिव कहलाता है और वही परमानन्दमय, सर्व सुखदायक,परम चैतन्य आदि अनन्त गुणों का समुद्र हो जाता है।

परमाल्हादसम्पन्नं, रागद्वेषविवर्जितम्।
अर्हन्तं देहमध्ये तु, यो जानाति स पण्डितः।।२०।।

अन्वय - यः परमाल्हादसम्पन्नं रागद्वेषविवर्जितं अर्हंतं देहमध्ये जानाति सः एव पण्डितः अस्ति।

अर्थ - इस प्रकार ऊपर कहे हुए परम आल्हादयुक्त, राग द्वेष से शून्य अरहन्त देव को जो ज्ञानी पुरुष अपने देहरूपी मंदिर में विराजमान देखता व जानता है, वही पुरुष वास्तव में पंडित कहा जा सकता है।

आकाररहितं शुद्ध, स्वस्वरूपव्यवस्थितम्।
सिद्धमष्टगुणोपेतं, निर्विकारं निरंजनम्।।२१।।

अन्वय - आकाररहितं शुद्धं स्वस्वरूपव्यवस्थितं निर्विकारं निरंजनम् अष्टगुणोपेतं सिद्धं अस्ति इति चिंतनीयम्।

अर्थ - अरहंत भगवान के स्वरूप की तरह सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप को रूपरसादिमय आकार से रहित, शुद्ध निज़ स्वरूप में विराजमान, रागादि विकारों से शून्य, कर्म मल से रहित, क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवल दर्शन, अनंत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अव्याबाध, अगुरुलघुत्व और अवगाहना रूप अष्ट गुणों से सहित चिन्तवन करे।

तत्सदृशं निजात्मानं, प्रकाशाय महीयसे।
सहजानंदचैतन्यं, यो जानाति स पंडितः।।२२।।

अन्वय - यः महीयसे प्रकाशाय निजात्मानं तत्सदृशं सहजानन्दचैतन्यं जानाति सः पंडितः अस्ति।

अर्थ - सिद्ध परमेष्टी के समान तीनलोक व तीनों कालवर्ती समस्त अनंत पदार्थों को एक साथ प्रकाश करने वाले केवलज्ञान आदि गुणों की प्राप्ति के लिये जो पुरुष अपनी आत्मा को परमानंदमय, चैतन्य चमत्कारयुक्त जानता है, वही वास्तव में पंडित है।

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः।।२३।।
काष्टमध्ये यथा वन्हिः, शक्तिरूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डितः।।२४।।

अन्वय - यथा पाषाणेषु हेमः दुग्धमध्ये घृतं, तिलमध्ये तैलं तथैव देहेमध्ये शिवः अस्ति। ``यथा काष्टमध्ये वन्हिः शक्तिरूपेण तिष्ठति तथैव शरीरेषु अयं आत्मा शक्तिरूपेण तिष्ठति'' इति यः जानाति सः पंडितः अस्ति।

अर्थ - जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाण में सोना गुप्त रीति से छिपा रहता हैं, तथा दुग्ध में जैसे घृत व्याप्त रहता है, तिल में जैसे तैल व्याप्त रहताहै उसी प्रकार शरीर में शिवरुप आत्मा विराजमान है ऐसा समझना चाहिये अथवा जैसे काष्ठ के भीतर अग्नि, शक्ति रूप से रहती है उसी प्रकार शरीर के भीतर शुद्ध आत्मा विराजमान है इस प्रकार जो समझता है वही वास्तव में पंडित है।

परमानन्द-स्तोत्र
की
श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	अ	
अनंतसुखसम्पन्नम्	२	१५२
	आ	
आनन्दं ब्रम्हणो रूपम्	९	१५४
आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वम्	१२	१५५
आकाररहितं शुद्धम्	२१	१५७
	उ	
उत्तमास्वात्मचिंतास्यात्	४	१५३
	क	
काष्टमध्ये यथा वन्हिः	२४	१५४
	च	
चिहानन्दमयं शुद्धम्	१३	१५५
	त	
तत्सदृशं निजात्मानम्	२२	१५७
तद्धयानं क्रियते भव्यैः	१०	१५४
	द	
द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तम्	८	१५४
	न	
नलिन्यां च यथानीरम्	७	१५३
निर्विकारं निराबाधम्	३	१५२
निर्विकल्पसमुत्पन्नम्	५	१५३

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	प	
परमानंदसंयुक्तम्	१	१५२
परमाल्हादसम्पन्नम्	२०	१५७
पाषाणेषु यथाहैमः	२३	१५८
	य	
ये ध्यानशीला मुनयः प्रधानाः	११	१५५
यत्क्षणं दृश्यते शुद्धम्	१५	१५६
	ल	
लोकमात्रप्रमाणोऽयम्	१४	१५५
	स	
सदानन्दमयं जीवम्	६	१५३
स एव परमं ब्रम्ह	१६	१५६
स एव परमं ज्योतिः	१७	१५६
स एव सर्वकल्याणम्	१८	१५६
स एव परमानन्दः	१९	१५६

श्रीमद्भट्टाकलङ्क प्रणीत

स्वरूपसम्बोधन

मुक्ताऽमुक्तैकरूपो यः, कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमामि तम्।।१।।

अन्वय - यः कर्मभिः मुक्तैकरूपः, संविदादिना अमुक्तैकरूपः, अक्षयं, ज्ञानमूर्तिम्, तं परमात्मानं नमामि।

अर्थ - मंगलाचरण करते हुए श्री अकलंकभट्टाचार्य कहते हैं कि जो अविनश्वर, ज्ञानमूर्ति, परमात्मा, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मो से, रागादिक भावकर्मो से व शरीररूपनोकर्म से मुक्त (रहित) हैं और सम्यग्ज्ञान आदि अपने स्वाभाविक गुणों से अमुक्त (युक्त) हैं उन परमानन्दमय परमात्मा को नमस्कार करता हूं।

अर्थात् उपर्युक्त तीन प्रकार के कर्मो को नष्ट कर देने के कारण जो मुक्तरूप हैं और अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य, आदि गुण से युक्त होने के कारण जो अमुक्त रूप है और ज्ञान ही जिनकी मूर्ति है ऐसे अविनश्वर परमात्मा को इसमें नमस्कार किया गया है।

मीमांसक, परमात्मा को कर्म रहित नहीं मानते इसलिये उनके मत का निराकरण करने के लिये ``कर्ममुक्त'' विशेषण दिया गया है। नैयायिक व वैशेषिक, मुक्तजीव में ज्ञानादि विशेष गुण का भी अभाव मानते हैं इसलिये ``ज्ञानादि से अमुक्त'' विशेषण दिया है। कोई २ मतावलम्बी मुक्ति से फिर वापिस आना मानते हैं इस लिये ``अक्षय'' विशेषण दिया गया है। सांख्य मतावलम्बी, परमात्मा को ज्ञान रहित मानता है इसलिये ``ज्ञानमूर्ति'' विशेषण दिया गया है। और मुक्ता-मुक्त कहने से स्याद्वाद की सिद्धि भी की गई हैं तथा आगे भी प्रायः प्रत्येक श्लोक में स्याद्वाद की सिद्धि की जायगी।।१।।

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं क्रमाद्धेतुफलावहः।
यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः।।२।।

अन्वय - सः अयं आत्मा, सोपयोगः क्रमात् हेतुफलावहः ग्राह्यः अग्राह्य अनाद्यन्तः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः अस्ति।

अर्थ - वह परमात्मां आत्मरूप होने से कारण स्वरूप है, और ज्ञान दर्शन रूप होने से कार्य स्वरूप भी है। इसी तरह केवलज्ञान के द्वारा जानने योग्य होने से ग्राह्य स्वरूप है, और इन्द्रियों के द्वारा न जानने योग्य होने से अग्राह्य स्वरूप भी है।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्यरूप है, और परिणमनशील होने से पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पाद-विनाश स्वभाव भी है। इस प्रकार परमात्मा में अनेक तरह से अनेकांतपना सिद्ध होता है।।२।।

प्रभेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः।।३।।

अन्वय - अयं परमात्मा प्रभेयत्वादिभिः धर्मैः अचिदात्मा, ज्ञानदर्शनतः चिदात्मकः तस्मात् चेतनाचेतनात्मकः अस्ति।

अर्थ - प्रमेयत्वादिक धर्मों की अपेक्षा से वह परमात्मा अचेतन रूप है और ज्ञान दर्शन की अपेक्षा से चेतन रूप भी है अर्थात् दोनों अपेक्षाओं से चेतन अचेतन स्वरूप है।

भावार्थ - आत्मा में एक चेतना नामक गुण है, जिस गुण की ज्ञान व दर्शन ये दो पर्यायें होती हैं ओर इस चेतना गुण अथवा इसकी ज्ञान-दर्शन पर्यायों की अपेक्षा से ही आत्मा चेतन कहलाता है, इस चेतना गुण के अतिरिक्त आत्मा में और जो प्रभेयत्व (जिसके होने से वस्तु ज्ञान का विषय होती है) आदि अनंत गुण ऐसे हैं जो कि पुद्गलादि अचेतन पदार्थों में भी पाये जाते हैं उन गुणो की अपेक्षा आत्मा एवं परमात्मा को अचेतन भी कह सकते है और इसीलिये आत्मा में चेतनपना व अचेतनपना सिद्ध होता है।

ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन्।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्त्तितः।।४।।

अन्वय - सः अयं आत्मा ज्ञानात् भिन्नः, कथंचन् न भिन्नः ज्ञानात् अभिन्नः, कथंचन् न अभिन्नः यतः पूर्वापरीभूतं ज्ञानं आत्मा इति कीर्तितः।

अर्थ - वह परमात्मा ज्ञान से भिन्न है और ज्ञान से भिन्न नहीं भी है अर्थात् ज्ञान से कथंचित् किसी अपेक्षा से) भिन्न है सर्वथा (सब अपेक्षाओं से) भिन्न भी नहीं है। इसी प्रकार वह परमात्मा ज्ञान से अभिन्न है और ज्ञान से अभिनन भी नहीं है अर्थात् ज्ञानं से कथंचित् अभिन्न है सर्वथा अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि पहले पिछले सब ज्ञानों का समुदाय ही मिल कर आत्मा कहलाता है।

भावार्थ - आत्मा नित्य परिणमनशील पदार्थ है और उसमें अनंत गुण हैं जिन में ज्ञान गुण एक ऐसा है जो हमारे अनुभव में आता है और जिसके द्वारा हम अपने व दूसरे की आत्मा को जान सकते हैं इस कारण ज्ञान गुण को ही यहां आत्मा कहा गया है, दूसरी बात यह है कि यह ज्ञान या चेतना गुण आत्मामें हमेशा रहते हुए भी परिणमता (बदलता) रहता है इस कारण किसी एक समय के ज्ञानमात्र ही आत्मा न होने से ज्ञान से आत्मा भिन्न है और सर्व समयों के ज्ञानों का समुदाय रूप होने से ज्ञान से आत्मा अभिन्न है इसी कारण ज्ञान से आत्मा को सर्वथा भिन्न वा अभिन्न न मान कर कथंचित् भिन्न अथवा अभिन्न माना गया है।

स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः।
ततःसर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा।।५।।

अन्वय - सः अयं आत्मा, स्वदेहप्रमितः च कथंचन् स्वदेह प्रमितः न, ज्ञानमात्रः च ज्ञानमात्रः न, ततः अयं सर्वगतः च सर्वथा विश्वव्यापी न।

अर्थ - वह अरहंत परमात्मा अपने परम औदारिक शरीर के बराबर है और बराबर नहीं भी है अर्थात् समुद्घात (मूल शरीर में रहते हुए भी आत्मा के प्रदेशों का कारण विशेष से कार्माण आदि शरीरों के साथ बाहर निकलना) अवस्था में जिस समय केवली भगवान की आत्मा के प्रदेश संपूर्ण लोकाकाश में फैलजाते हैं उस समय आत्मा औदारिक शरीर के बराबर नहीं है। इसी तरह वह परमात्मा ज्ञानमात्र है और ज्ञानमात्र नहीं भी है अर्थात् ज्ञान गुणको मुख्य कर के व अन्य समस्त गुणों को गौण करके यदि विचारा जाय तो आत्मा या परमात्मामें ज्ञानमात्र ही दृष्टि में आता है और यदि अन्य गणों को मुख्य किया जाय तो ज्ञान मात्र दृष्टि में नहीं भी आता है। इसी तरह जब केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण लोक व अलोक को जानने की अपेक्षा लेते है तब परमात्मा को सर्वगत भी कह सकते

हैं क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ परमात्मा से गत हैं अर्थात् ज्ञात हैं और संपूर्ण पदार्थो को जानते हुए भी अरहंत परमात्मा अपने दिव्य औदारिक शरीर में ही स्थित रहता है इस लिये वह विश्वव्यापी नहीं भी है।

भावार्थ - परमात्मा में उपर्युक्त धर्म कथंचित् सिद्ध होते हैं, सर्वथा सिद्ध नहीं होते।

नानाज्ञानस्वभावत्वादेकोऽनेकोऽपि नैव सः।
चैतनैकस्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत्।।६।।

अन्वय - सः न एकः एव अपितु नानाज्ञानस्वभावत्वात् अनेकोऽपि, चैतनैकस्वभावत्वात् एकः अपि, इति आत्मा एकानैकात्मको भवेत्।

अर्थ - उस आत्मा में मतिज्ञान, (इन्द्रिय व मन से वस्तु को जानना) श्रुतज्ञान (मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्धी को जानना) आदि अनेक ज्ञान होते हैं तथा और भी सम्यकत्व (सच्चा विश्वास) चारित्र (सच्चा आचरण) आदि अनेक गुण होते हैं जिनके कारण यह आत्मा यद्यपि अनेक रूप हो रहा हैं तथापि अपने चेतन स्वरूप की अपेक्षा एकपने को नहीं छोडता। इस लिये इस आत्मा को कथंचित् एक रूप भी जानना चाहिये और कथंचित अनेक रूप भी जानना चाहिये।

भावार्थ - जैसे एक पुरुष एक स्वरूप होकर भी पिता पुत्र चचा, भतीजा आदि रूप कहलाता है क्यों कि पिता की अपेक्षा उसको पुत्र, और पुत्र की अपेक्षा उसी को पिता, भतीजे की अपेक्षा चचा और चचा की अपेक्षा भतीजा कहते हैं। उसी तरह एक आत्मा आत्मपने की अपेक्षा एक स्वरूप होकर भी अपने धर्मों की अपेक्षा अनेक रूप कहा जाता है।

नाऽवक्तव्यःस्वरूपाद्यै र्निर्वाच्यःपरभावतः।
तस्मान्नैकान्ततोः वाच्यो नापि वाचामगोचरः।।७।।

अन्वय - सः आत्मा स्वरूपादौ वाच्यः अतः न अवक्तव्यः च परभावतः निर्वाच्यः अतः अवक्तव्यः तस्मात् एकांततः न वाचा-मगोचरः न वाच्यः एव।

अर्थ - वह आत्मा अपने स्वरूप की अपेक्षा वक्तव्य (कहे जाने योग्य) होने से सर्वथा अवक्तव्य (न कहे जाने योग्य) भी नहीं है।और पर पदार्थों के स्वरूप की अपेक्षा अवक्तव्य होने से सर्वथा वक्तव्य भी नहीं है।

भावार्थ - प्रत्येक पदार्थ अपने धर्मों की अपेक्षा से कहा जाता है या पुकारा जाता

है पर के धर्मों की अपेक्षा से नहीं व्यवहार किया जाता जैसे कि आम का फल, आम के नाम से कहा ज़ाता है केला अमरूद आदि के नाम से नहीं कहा जाता। इसलिए प्रत्येक वस्तु में अपने स्वभाव से कहे जाने की योग्यता व अन्य पदार्थों के स्वभाव से न कहे जाने की योग्यता समझते हुए आत्मा में भी ऐसा ही समझना चाहिये।

स स्याद्विधिनिषेधात्मा स्वधर्मपरधर्मयोः।
समूर्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात्।।८।।

अन्वय - सः स्वधर्मपरधर्मयोः विधिनिषेधात्मा, बोध मूर्तित्वात् समूर्तिः विपर्ययात् अमूर्त्तिश्च।

अर्थ - वह आत्मा अपने धर्मों का विधान करने वाला व अन्य पदार्थों के धर्मों का अपने में निषेध करने वाला है और ज्ञान के आकार होने से वह आत्मा मूर्तिक तथा पुद्गलमय शरीर से भिन्न होने के कारण अमूर्तिक है।

भावार्थ - आत्मा में जैसे स्वरूप की अपेक्षा विधिरूप धर्म है वैसे पर रूप की अपेक्षा निषेधरूप धर्म भी है। क्योंकि जैसे ज्ञानादि आत्मिक धर्मों की अपेक्षा आत्मा की सत्ता सिद्ध होती हैं वैंसे रूपरसादिक पुद्गल के धर्मों की अपेक्षा आत्मा की सत्ता नहीं सिद्ध होती। इसके अतिरिक्त ज्ञान का पुंज होने के कारण जैंसे आत्मा मूर्तिक कहा जा सकता है उसी तरह पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ न होने से अमूर्तिक भी कहलाता है।।८।।

इत्याद्यनेकधर्मत्वं बंध मोक्षौतयोः फलम्।
आत्मा स्वीकुरते तत्तत्कारणैः स्वयभेव तु।।९।।

अन्वय - इति आत्मा अनेकधर्मत्वं स्वीकुरुते तथा तयोः बंधमोक्षौ फलं च तत्तत्कारणैः स्वयमेव स्वीकुरुते।

अर्थ - इस प्रकार पहले कहे हुए क्रमके अनुसार यह आत्मा अनेक धर्मो को धारण करता है और उन धर्मो के फल स्वरूप, बंध व मोक्षरूप फलको भी उन २ कारणों से स्वयं अपनाता है।

भावार्थ - यह आत्मा रागद्वेषादि कारणों से कर्म का बंध करके पराधीन व दुःखी भी अपने आप होता है, और ज्ञान, ध्यान, जप, तप, आदि कारणों से-.वंध अवस्था को नष्ट करके-मुक्ति को प्राप्त कर स्वाधीन भी स्वयं ही हो जाता है।।९।।

कर्ता यः कर्मणा भोक्ता, तत्फलानां स एव तु।
बहिरन्तरुपायाभ्यां तेषां मुक्तत्वमेवहि।।१०।।

अन्वय - यः कर्मणां कर्ता सः एव तु तत्फलानां भोक्ता अस्ति तस्य एव बहिरन्तरुपायाभ्यां तेषां मुक्तत्वं अपि।

अर्थ - जो आत्मा, बाह्य शत्रु मित्र आदि ब अंतरंग राग द्वेष आदि कारणों से ज्ञानावरणादिक कर्मों का कर्ता व उनके सुख दुःखादि फलों का भोक्ता है, वही आत्मा बाह्य स्त्री पुत्र धन धान्यादि का त्याग करने से-कर्मों के कर्त्ता, भोक्तापने के व्यवहार से-मुक्त भी है। अर्थात् जो संसार दशा में कर्मों का कर्त्ता व भोक्ता है वही मुक्त दशा में कर्मों का कर्त्ता भोक्ता नहीं भी है।।१०।।

आत्म स्वरूप की प्राप्ति का उपाय :-

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रमुपायः स्वात्मलब्धये।
तत्त्वेयाथात्म्यसंस्थित्यमात्मनो दर्शनं मतम्।।११।।
यथावद्वस्तुनिर्णीतिःसम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथञ्चित्प्रमितेः पृथक्।।१२।।
दर्शनज्ञानपर्यायेषूत्तरोत्तरभाविषु।
स्थिरमालम्बनं यद्वा माध्यस्थ्यं सुखदुखयोः।।१३।।
ज्ञाता दृष्टाऽहमेकोऽहं सुखे दुःखे न चापरः।
इतीदं भावनादार्ढ्यं, चारित्रमथवापरम्।।१४।।

अन्वय - स्वात्मलब्धये सद्दष्टिज्ञानचारित्रं उपायः, आत्मनः तत्त्वे याथात्म्यसंस्थितिः दर्शनं मतं, प्रदीपवत्-यथावत् वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं, तत्स्वार्थव्यवसायात्म, कथंचित् प्रमितेः प्रथक् उत्तरोत्तरभाविषु दर्शनज्ञानपर्यायेषु स्थिरमालम्बनं (चारित्रं) वा सुखदुःखयोः माध्यस्थ्यं (चारित्रं) अथवा ज्ञाता अहं, दृष्टा अहं एकः अहं, सुखे दुःखे न अपरः, इति इदं भावनादार्ढ्यम् तत् चारित्रम्।

अर्थ - सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों अपने शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् संसार से मुक्त होने के कारण हैं,। आत्मा के वास्तविक स्वरूप या सात

तत्वों के सच्चे श्रद्धान को तो सम्यग्दर्शन कहते हैं। पदार्थों के वास्तविकपने से निर्णय करने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान, दीपक की तरह अपना तथा अन्य पदार्थों का प्रकाशक होता है, अज्ञान निवृत्ति रूप जो फल है उससे कथंचित् भिन्न भी है। जो अपनी ही क्रम २ से होने वाली ज्ञान दर्शनादिक पर्यायों में स्थिर रूप आलम्बन है उसे सम्यक् चारित्र कहते हैं। अथवा सांसारिक सुख दुःखों में मध्यस्थभाव रखने को सम्यक् चरित्र कहते हैं, या, मैं ज्ञाता हूं दृष्टा हूं अपने कर्त्तव्य के फल स्वरूप सुख दुःखों का भोगने वाला स्वयं अकेला ही हूं बाह्य स्त्री पुत्रादि पदार्थों का मेरे से कोई संबंध नहीं है इत्यादि अनेक प्रकार की शुद्ध आत्म-स्वरूप में तल्लीन करानेवाली भावनाओं की दृढ़ता को भी सम्यक्चारित्र कहते हैं।।११ ।।१२।। १३।। १४।।

तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारण सहकारकम्।
यद्वाह्यं देशकालादि तपश्च बहिरंगकम्।।१५।।

अन्वय - यत् बहिरंगकं तपः देशकालादिबाहयं कारणं तत् एतस्य मूलहेतोः सहकारकं स्यात्।

अर्थ - सम्यग्यदर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को जो ऊपरके श्लोको में मोक्ष प्राप्ति का मूल कारण बताया है उनके सहकारीकारण देश कालादिक को व अनशन अवमौदर्य आदि बाह्य तप को समझना चाहिये।

भावार्थ - मोक्ष प्राप्ति में जैसे रत्नत्रय अंतरंग कारण है वैसे ही उत्तम क्षेत्र दुःखमसुखमा काल, वर्जषभनाराचसंहनन, उपवास आदि तप बाह्य कारण हैं।

इतीदं सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च शक्तितः।
आत्मानं भावयेन्नित्यं, रागद्वेषविवर्जितम्।।१६।।

अन्वय - इति इदं सर्वं शक्तितः आलोच्य, आत्मानं सौस्थ्ये दौस्थ्ये च नित्यं रागद्वेषविवर्जितं भावयेत्।

अर्थ - इस प्रकार तर्क वितर्क के साथ आत्मस्वरूप को अच्छी तरह जानकर सुख में व दुःख में यथाशक्ति आत्मा को नित्य ही राग द्वेष रहित चिन्तवन करना चाहिये अर्थात् सुख सामग्री के मिलने पर राग नहीं करना चाहिये और अनिष्ट समागम में द्वेष नहीं करना चाहिये, क्यों कि ये सब इष्ट अनिष्ट पदार्थ आत्मा की कुछ भी हानि नहीं कर सकते। इनका संबंध केवल शरीर से रहता है ऐसा विचार रखना चाहिये।

कषायै रञ्जितंचेतस्तत्त्वं नैवावगाहते।
नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौंकुमः।।१७।।

अन्वय - यथा नीलीरक्ते अम्बरे कौंकुमः रागो दुराधेयः तथैव कषायैः रंजितं चेतः तत्त्वं नैव अवगाहते।

अर्थ - जैसे नीले कपड़े पर केशर का रंग नहीं चढ़ सकता वैंसे ही क्रोधादि कषायों से रंजायमान हुए मनुष्य का चित्त, वस्तु के असली स्वरूप को नहीं पहिचान सकता।

भावार्थ - बस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने का यत्न करने से भी पहले हृदय से क्रोधादि कषायों को दूर करना चाहिये तभी वस्तु का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। जैसे अग्नि से जली हुई भूमि में अंकुर नहीं उगता, वैसे ही कषाय से दग्ध हृदय में धर्माङ्कुर नहीं उगता इस दृष्टांत को भी हृदयंगम करके प्रत्येक को निरन्तर कषायों को दूर करने के लिये पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिये जिससे कि वे संसार सागर में डूबी अपनी आत्मा का उद्धार कर सकें।

ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै, निर्मोहो भव सर्वतः।
उदासीनत्वमाश्रित्य तत्त्वचिंतापरो भव।।१८।।

अन्वय - ततः त्वं दोषनिर्मुक्त्यै सर्वतः निर्मोहो भव, तथा उदासीनत्वं आश्रित्य तत्वचिंतापरो भव।

अर्थ - आचार्य व्यवहारी जीव से कहते हैं कि हे भाई ! जव राग द्वेष के बिना दूर किये आत्महित नहीं हो सकता तब तुमको राग द्वेष दूर करने के लिये शरीरादिक पर पदार्थों का मोह त्याग कर और संसार शररी व भोगों से उदासीन भाव धारण करके तत्त्व विचार में तन्मय रहना चाहिये।

हेयोपादेयतत्त्वस्य, स्थितिं विज्ञाय हेयतः।
निरालम्बो भवान्यस्मादुपेये सावलम्बनः।।१९।।

अन्वय - हेयोपादेयतत्त्वस्य स्थितिं विज्ञाय अन्यस्मात् हेयतः निरालम्बः भव उपेये सावलम्बनः भव।

अर्थ - हेय त्यागने योग्य-व उपादेय-ग्रहण करने योग्य पदार्थों का स्वरूप जानकर पररूप जो हेय वस्तु है उसको त्यागना चाहिये व उपादेय वस्तु का ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ - जो स्त्री, पुरुष पुत्र धनधान्य, शत्रु मित्रादि पदार्थ आत्महित के बाधक व राग द्वेष के बढ़ाने वाले है उनसे संबंध छोड़ना चाहिये और संसारी जीवों को एक मात्र पंच परमेष्ठी का शंरण ग्रहण कर ज्ञान ध्यानादि मे तन्मय रहना चाहिये।

स्वं परं चेतिवस्तुत्वं, वस्तुरूपेण भावय।
उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते, शिवमाप्नुहि।।२०।।

अन्वय - स्वं च परं वस्तुत्वं वस्तुरूपेण भावय तथा उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते शिवं आप्नुहि।

अर्थ - अपनी आत्मा के व पर पदार्थों के असली स्वरूप का बार २ चिन्तवन करना चाहिये, और समस्त संसारी पदार्थों की इच्छा का त्याग करके उपेक्षा भावना (राग द्वेष के त्याग की भावना) को बढाते २ मोक्ष पद प्राप्त करना चाहिये।

मोक्षेऽपि यस्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।
इत्युक्तत्वाद्धितान्वेषी, कांक्षां न क्वापि योजयेत्।।२१।।

अन्वय - ``यस्य मोक्षे अपि अनाकांक्षा सः मोक्ष अधिगच्छति'' इति उक्तत्वात् हितान्वेषी क्व अपि कांक्षा न योजयेत्।

अर्थ - जब किसी साधु महात्मा पुरुष के हृदय से मोक्ष की भी इच्छा निकल जाती है तभी उसको मुक्ति प्राप्त होसकती है इस सिद्धांत वाक्य के ऊपर ध्यान देते हुए आत्मा हित के इच्छुक जीवों को सभी पदार्थों की इच्छा का त्याग करना चाहिये।

भावार्थ - किसी भी पदार्थ की प्राप्ति, प्रयत्न करने से होती है इच्छामात्र से नहीं होती, यहां तक कि मोक्ष की इच्छा करने से मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता, किन्तु इच्छा करनेसे मोक्ष प्राप्ति में उलटी बाधा उपस्थित होती है, इसलिए आत्मा का हित चाहने चाले पुरुषों को इच्छा सर्वथा त्याज्य समझना चाहिये।

साऽपि च स्वात्मनिष्ठत्वात्सुलभा यदि चिन्त्यते।
आत्माधीने सुखे तात, यत्नं किं न करिष्यसि।।२२।।

अन्वय - यदि स्वात्मनिष्ठत्वात् सा सुलभा चिंत्यते तर्हि हे तात ! आत्माधीने सुखे यत्नम् किं न करिष्यसि।

अर्थ - यदि कोई यह कहे कि इच्छा करना तो अपने आधीन होने से सुलभ है किन्तु फल प्राप्ति अपने आधीन न होने से कठिन है इसलिए इच्छा किसी भी वस्तु की

जा सकती है, ऐसा कहने वाले को आचार्य करुणा पूर्वक कहते हैं कि हे भाई ! जसे इच्छा करना आत्माधीन होने से सुलभ है वैसे ही परमानन्दमय सुख का पाना भी तो आत्मा के ही आधीन है इसलिये तुम उस की प्राप्ति का प्रयत्न ही क्यों नहीं करते, जिससे कि संसार के झगडों से छूट कर हमेशा के लिये निराकुलित होजाओ।

स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि किन्त्विमम्।
अनाकुलस्वसंवेद्ये, स्वरूपे तिष्ठ केवले।।२३।।

अन्वय - किन्तु तत्रापि स्वं परं विद्धि, इमं व्यामोहं छिन्धि, केवले अनाकुलस्वसंवेधे स्वरूपे तिष्ठ।

अर्थ - आचार्यं कहते हैं कि मुक्ति प्राप्त करना भी अपने ही आधीन समझ कर स्व और पर को जानना चाहिये तथा बाह्य पदार्थों के मोह को नष्ट करना चाहिये, ओर आकुलता रहित स्वानुभवगम्य केवल अपने निज स्वरूप में ही स्थिर होना चाहिए।

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरम्।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्स्वोत्थमानंदममृतं पदम्।।२४।।

अन्वय - स्वः स्वस्मिन् स्वस्मै स्वेन ध्यात्वा इथं स्वस्मात् स्वस्य स्वोत्थं आनन्दं अमृतं अविनश्वरं पदं लभेत्।

अर्थ - इस श्लोक में आचार्य आत्मा में ही सातों कारक सिद्ध करते हुए कहते हैं कि व्यवहारी जीवों को अपने ही आत्मा में अपने ही आत्महित के लिये अपने ही द्वारा अपने आप ही अपना ध्यान करना चाहिये, और अपने ही ध्यान से उत्पन्न हुए परमानन्द मय अविनश्वर पद को प्राप्त करना चाहिये।

इति स्वतत्वं परिभाव्य वाङ्मयम्, य एतदाख्याति शृणोति चादरात्।
करोति तस्मै परमार्थसम्पदम्, स्वरूपसंबोधनपंचविंशतिः।।२५।।

अन्वय - इति स्वतत्त्वं परीभाव्य यः एतत् वांङ्मयं आदरात् आख्याति शृणोति च तस्मै स्वरूपसम्बोधनपंचविंशतिः परमार्थसंपदं करोति।

अर्थ - श्री अकलंक भट्टाचार्य उपसंहार करते हुए ग्रन्थ का माहात्म्य वर्णन करते हैं कि जो पुरुष पच्चीस श्लोकों में कहे हुए इस स्वरूप संबोधन ग्रन्थ को पढेंगे सुनेगे और इसके वाक्यों द्वारा कहे हुए आत्म तत्व का बारंबार मनन करेंगे उनको यह ग्रन्थ परमार्थ की सम्पत्ति अर्थात् मोक्षपद प्राप्त करावेगा।

स्वरूप-सम्बोधन

की

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	इ	
इत्याद्यनेकधर्मत्वम्	९	१६५
इतीदं सर्वमालोच्य	१६	१६७
इति स्वतत्वं परिभाव्य बाङमयम्	२५	१७०
	क	
कर्ता यः कर्मणां भोक्ता	१०	१६६
कषायैः रंजितं चेतः	१७	१६८
	त	
तदेतन्मूलहेतोः स्यात्	१५	१६७
ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै	१८	१६८
	द	
दर्शनज्ञानपर्यायेषु	१३	१६६
	न	
नानाज्ञानस्वभावत्वात्	६	१६४
वावक्तव्यः स्वरूपाद्यैः	७	१६४
	प	
प्रमेयत्वादिर्भिधर्मैं	३	१६२
	म	
मुक्तामुक्तैकरूपो यः	१	१६१
मोक्षेऽपि यस्यानाकांक्षा	२१	१६९
	य	
यथावद्वस्तुनिर्णीतिः	१२	१६६

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	स	
सोऽयमात्मा सोपयोगोऽपम्	२	१६२
स्वदेहप्रमितश्चायम्	५	१६३
स स्याद्विधिनिषेधात्मा	८	१६५
सदृष्टिज्ञानचारित्रम्	११	१६६
स्वं परं चेति वस्तुत्वम्	२०	१६९
साऽपि च स्वात्मनिष्ठत्वात्	२२	१६९
स्व परं विद्धि तत्रापि	२३	१७०
स्व स्वं स्वेनस्थितं स्वस्मै	२४	१७०
	ह	
हेयोपादेयतत्वस्य	१९	१६८
	ज्ञ	
ज्ञानादभिन्नो न चामिन्नो	४	१६२
ज्ञातादृष्टाहमेकोऽहम्	१४	१६६

श्रीमत्पूज्यपादस्वामिविरचित :-

इष्टोपदेश

भाषानुवाद सहित

—◆○◆○◆○◆—

उत्थानिका :-

``जो जिस गुण को चाहने वाला है वह उस गुण संपन्न पुरुष विशेष को नमस्कार किया करता है'' यह एक सामान्य सिद्धांत है। परमात्मा के गुणों को चाहनेवाला चूंकि ग्रन्थकार (पूज्यपाद) है अतः सर्वप्रथम वह परमात्मा को नमस्कार करता है।

मंगलाचरण :-

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नभोऽस्तु परमात्मने।।१।।

अन्वय - यस्य कृत्स्नकर्मणः अभावे स्वयं स्वभावाप्तिः तस्मै संज्ञानरूपाय परमात्मने नमः अस्तु।

अर्थ - जिसको संपूर्ण कर्मो के अभाव होने पर, स्वयं ही स्वभाव की प्राप्ति होगई है उस सम्यज्ञान रूप परमात्मा के लिये नमस्कार होओ।

विशदार्थ - जिसे, आत्मा की परतन्त्रता (पराधीनता) के कारण भूत द्रव्य एवं भाव रूप समस्त कर्मो के,- सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक स्वरूप के द्वारा-सर्वथा नष्ट होजाने से निर्मल निश्चल चैतन्य रूप स्वभाव (कथंचित् तादात्म्य परिणति) की प्राप्ति होगई है उस सम्पूर्ण ज्ञान स्वरूप आत्मा को, जो कि मुख्य एवं अप्रतिहत अतिशय वाला होने से समस्त सांसारिक प्राणियों से उत्कृष्ट है, नमस्कार होओ।

दोहा - स्वयं कर्म सब नाश कर प्रगटायो निजभाव।
परमातम सर्वज्ञ को वंदो कर शुभ भाव।।

``स्वयं स्वभावाप्तिः'' इस पद को सुन शिष्य बोला कि ``आत्मा को, स्वयं ही, सम्यक्त्व आदिक अष्ट गुणों की अभिव्यक्ति रूप स्वरूप की उपलब्धि (प्राप्ति) कैसे (किस उपाय से) हो जाती है ? क्योंकि स्व-स्वरूप की स्वयं प्राप्ति को सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टांत नहीं पाया जाता है और बिना दृष्टांत के उपरि-लिखित कथन को कैसे ठीक माना जा सकता है।

आचार्य समाधान करते हुए लिखते हैं -

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता।।२।।

अन्वय - यथा योग्योपादानयोगेन दृषद स्वर्णता मता तथा आत्मनः अपि द्रव्यादिस्वादिसम्पत्तौ आत्मता मता।

अर्थ - योग्य उपादान कारण से संयोग से जैसे पाषाण विशेष स्वर्ण बन जाता है वैसे ही सुद्रव्य क्षेत्र आदि रूप सामग्री के मिलने पर जीव भी चैंतन्यस्वरूप आत्मा होजाता है।

विशदार्थ - योग्य (कार्योत्पादन समर्थ) उपादान कारण के मिलने से पाषाण विशेष-जिसमें सुवर्ण रूप परिणामने (होने) की योग्यता पाई जाती है-जैसे स्वर्ण बन जाता हैं वैसे ही अच्छे (प्रकृत कार्य के लिए उपयोगी) द्रव्य क्षेत्र काल भावों की सम्पूर्णता होने पर जीव संसारी आत्मा) निश्चल चैतन्य स्वरूप होजाता है। दूसरे शब्दों में,संसारी प्राणी जीवात्मा से परमात्मा बनजाता है।

दोहा - स्वर्ण पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक होजाय।
सुद्रव्यादि चारों मिले, आप शुद्धता थाय।।

शंका - इस कथन को सुन शिष्य बोला कि भगवन ! यदि अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप सामग्री के मिलने से ही आत्मा स्व स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तब फिर ब्रत समिति आदि का पालन करना निष्फल (निरर्थक) होजायगा। व्रतों का परिपालन कर व्यर्थ में ही शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ ?

समाधान - आचार्य उत्तर देते हुए बोले हे वत्स ! जो तुमने यह शंका की है कि, व्रतादिकों का परिपालन निरर्थक होजायगा सो बात नहीं है कारण कि वे व्रतादिक नवीन

शुभ कर्मो के बंध के कारण होने से, तथा पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के एक देश क्षय के कारण होने से सफल एवं सार्थक है। इतना ही नहीं किन्तु व्रत सम्बंधी-अनुरागलक्षणारूप शुभोपयोग होने से पुण्य की उत्पत्ति होती है और वह पुण्य स्वर्गादिक पदों की प्राप्ति के लिए निमित्त कारण होता है, इसलिये भी व्रतादिकों का आचरण सार्थक है। इसी बात को प्रगट करने के लिए आचार्य आगे का श्लोक लिखते हैं -

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतै र्वत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्।।३।।

अन्वय - व्रतैः दैवं पदं वरं वत् अव्रतै नारकं पंद न वरं प्रतिपालयतो छायातपस्थयोः महान् भेदः अस्ति।

अर्थ - ब्रतों के द्वारा देवपद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। जैसे छाया और घाम में बैटने वालों में अंतर पाया जाता है वैसे ही व्रत और अव्रत के आचरण व पालन करने वालों में फर्क पाया जाता है।

विशदार्थ - अपने कार्य के वश से नगर के भीतर गये हुए तथा वहां से वापिस आनेवाले अपने तीसरे साथी की मार्ग में प्रतीक्षा करने वाले-जिनमें से एक तो छाया में बैठा हुआ है और दूसरा घाम में बैठा हुवा है-दो व्यक्तियों में जैसे बड़ा भारी अंतर है अर्थात् छाया में बैठने वाला तीसरे पुरुष के आने तक सुख में बैठा रहता है और घाम में बैठने वाला, दुःख के साथ समय व्यतीत करता रहता है उसी तरह जब तक जीव को मुक्ति के कारणीभूत अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिक प्राप्त होते हैं, तब तक व्रतादिकों का आचरण करने वाला स्वर्गादिक स्थानों में आनन्द के सांथ रहता है दूसरा, ब्रतादिकों को न पालता हुआ असंयमी पुरुष नरकादि स्थानों में दुःख भोगता रहता है। अतः व्रतादिकों का परिपालन एवं आचरण निरर्थक नहीं अपि तु सार्थक है।

दोहा - मित्रराह देखत खडे इक छाया इक धूप।
ब्रतपालन से देवपद अब्रत दुर्गति कूप।।

शंका - यहां पर शिष्य पुनः प्रश्न करता हुआ कहता है- ``यदि उपरिलिखित कथन को मान्य किया जायगा तो चिद्रूप आत्मा में भक्ति (भाव विशुद्ध अंतरंग अनुराग) करना अयुक्त ही हो जायगा, कारण कि आत्मानुराग से होने वाला मोक्ष रुपी सुख तो योग्य

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि रूप सम्पत्ति की प्राप्ति की अपेक्षा रखनेके कारण बहुत दूर हो जायगा और बीचमें ही मिलने वाला स्वर्गादि-सुख ब्रतों के साहाय्य से मिल जायगा तब फिर आत्मानुराग करने से क्या लाभ ? अर्थात् सुखार्थी साधारण जन आत्मानुराग की ओर आकर्षित न होते हुए, ब्रतादिकों की ओर ही ज्यादा झुक जायेंगे।

समाधान - शंका का निराकरण करते हुए आचार्य बोले ``ब्रतादिकों का आचरण करना निरर्थक नहीं हैं,, (अर्थात् सार्थक है) इतनी ही बात नहीं किन्तु आत्मभक्ति को अयुक्त बतलाना भी ठीक नहीं है। इसी कथन की पुष्टि करते हुए आगे श्लोक लिखते हैं :-

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद् दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ?।।४।।

अन्वय - यत्र भावः शिवं दत्ते तत्र द्यौः कियत् दुरवर्तिनी यः गव्यूतिं आशु नयति सः किं क्रोशार्दे सीदति ?।

अर्थ - आत्मा में लगा हुआ जो परिणाम भव्य प्राणियों को मोक्ष प्रदान करता है, उस मोक्ष देने में समर्थ आत्म परिणाम के लिये स्वर्ग कितनी दूर है, न कुछ, वह तो उसके निकट ही समझो। अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्मध्यान से पैदा किये हुए पुण्य का एक फलमात्र है। ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता हैः-

गुरुपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितेः।
अनन्तशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति।।१९६।।
ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चर प्रांगस्य मुक्तये।
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये।।१९७।।

तत्वानुशासन

गुरू के उपदेश को प्राप्त कर सावधान हुए प्राणियों के द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनन्त शक्ति वाला आत्मा चिंतवन करने वाले को भुक्ति व मुक्ति प्रदान करता है। इस आत्मा को अरहंत व सिद्ध के रूप में चिंतवन किया जाय तो यह चरमशरीरी को मुक्ति प्रदान करता है और यदि चरमशरीरी न हो तो उसे वह आत्मध्यान से उपार्जित पुण्य की सहायता से भुक्ति (स्वर्ग चक्रवर्त्यादिक के भोगों) को प्रदान करनेवाला होता हैं।

नीचे की पंक्ति में उपरिलिखित भाव को दृष्टांत द्वारा समझाते हैं-

देखो, जो भार को ढोनेवाला, अपने भार को दो कोस तक आसानी व शीघ्रता के साथ लेजा सकता है तो क्या वह अपने भार को आधा कोस लेजाते हुए खिन्न होगा? नहीं, भार कों लेज़ाते हुए खिन्न नहीं होगा। बड़ी शक्ति के रहने या पाये जाने पर अल्प शक्ति का पाया जाना तो सहज (स्वाभाविक) ही है।

दोहा - आत्मभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर।
दोय कोस जो लेचले, आध कोस सुख पूर।।

इसप्रकार से आत्म भक्ति को जब कि स्वर्ग सुखों का कारण बतला दिया गया तब शिष्यपुनः कुतूहल की निवृत्ति के लिये प्रश्न पूंछता है कि ``स्वर्ग में जाने वालों को क्या फल मिलता है ?

आचार्य इसका स्पष्ट रीति से उत्तर देते हुए लिखते हैं -

हृषीकजमनातंकं दीर्धकालोपलालितं।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव।।५।।

अन्वय - नाके नाकौकसां हृषीकजं अनातंकं दीर्धकालोपलालितं सौख्यं नाकौ नाकौकसामिव भवति।

अर्थ - स्वर्ग में निवास करने वाले जीवों को स्वर्ग में वैसा ही सुख होता है जैंसा कि स्वर्ग में रहनेवालों (देवों) को हुआ करता है अर्थात् स्वर्ग में रहने वाले देवों का ऐसा अनुपमेय (उपमा रहित) सुख हुआ करता है कि उस सरीखा अन्य सुख बतलाना कठिन ही है। वह सुख इन्द्रियों से पैदा होने वाला आतंक से रहित व दीर्ध काल तक बना रहनेवाला होता है।

विशदार्थ - ऐ बालक ! स्वर्ग में निवास करनेवालों को न कि स्वर्ग में पैदा होने वाले एकेन्द्रियादि जीवों को स्वर्ग में. न कि क्रीड़ादिक के वश से रमणीक पर्वतादिक में- ऐसा सुख होता है जो चाहने के अनन्तर ही अपने विषय को अनुभव करने वाली स्पर्शादिक इन्द्रियों से सर्वांगीण हर्ष के रूप में पैदा (उत्पन्न) हो जाता है तथा जो आतंक (शत्रु आदिकों के द्वारा किया गया चित्त क्षोभ) से भी रहित होता है अर्थात् वह सुख राज्यादिक के सुख के समान आंतक सहित नहीं होता है। वह सुख भोग भूमि में उत्पन्न हुए सुख की तरह थोडे काल पर्यन्त भोगने में आने वाला नहीं है, वह तो उल्टा, सागरोपम काल तक,

आज्ञा में रहने वाले देव देवियों के द्वारा की गई सेवाओं से समय व समय बढ़ा चढ़ा ही पाया जाता है।

``स्वर्ग में निवास करनेवाले प्राणियों को (देवों को) सुख स्वर्गवासी देवों के समान ही हुआ करता है'' इस प्रकार से कहने या वर्णन करने का प्रयोजन यही है कि वह सुंख अनन्योपम है अर्थात् उसकी उपमा किसी दूसरे की नहीं दी जा सकती है। लोक में भी जब किसी चीज की अति हो ज़ाती है तो उसके घोतन करने के लिये ऐसा ही कथन किया जाता है जैसे ``भैया ! राम रावण का युद्ध तो राम रावण के युद्ध समान ही था। रामरावणयो र्युध्यं रामरावणयोरिव।''

अर्थात् युद्ध में भयंकरता की पराकाष्ठा का घोतन किया गया है। ऐसा ही सुख के विषय में समझना चाहिये।।५।।

इन्द्रियजन्यनिरोगमय दीर्धकाल तक भोग्य।
स्वर्गावासि देवानिको सुख उनहीं के योग्य।।

अर्थ - इस समाधान को सुन शिष्य को पुनः शंका हुई और वह कहने लगा - ``भगवन ! न केवल मोक्ष में किन्तु यदि स्वर्ग में भी, मनुष्यादिकों से बढकर उत्कृष्ट सुख पाया जाता है तो फिर ``मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जावे'' इस प्रकार की प्रार्थना करने से क्या लाभ'' ?

``संसार सम्बन्धी सुख में ही सुख का आग्रह करने वाले शिष्य को ``संसार सम्बन्धी सुख और दुःख भ्रान्त हैं'' यह वात बतलाने के लिये आचार्य आगे लिखा हुआ श्लोक कहते हैं-

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि।।६।।

अन्वय - देहिनां सुखं दुःखं च वासनामात्रं एव, तथाहि एते भोगा आपदि रोगाः इव उद्वेजयन्ति।

अर्थ - देहधारियों को जो सुख व दुःख होता है वह केवल कल्पना (वासना या संस्कार) जन्य ही है। देखो ! जिन्हें लोक में सुख पैदा करने वाला समझा जाता है ऐसी कमनीय कामनी आदिक भोग भी, आपत्ति (दुर्निवार. शत्रु आदि के द्वारा की गई बेचेनी) के समय में, रोगों (ज्वरादिक व्याधियों) की तरह प्राणियों को आकुलता पैदा करने वाले

होते हैं यही बात सांसारिक प्राणियों के सुख दुःख के सम्बंध में है।

विशदार्थ - ये प्रतीत (मालूम) होने वाले जितने इंद्रिय जन्य सुख व दुःख हैं वे सब वासना मात्र ही हैं। देहादिक पदार्थ न जीव के उपकारक ही हैं और न अपकारक ही, अतः परमार्थ से वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही हैं, लेकिन तत्वज्ञान न होने के कारण- ``यह मेरे लिये इष्ट है-उपकारक होने से'' तथा ``यह मेरे लिये अनिष्ट है-अपकारक होने से'' ऐसे विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कार जिन्हें वासना भी कहते हैं-इस जीव के हुआ करतै हैं। अतः ये सुख दुःख विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कार मात्र ही है स्वाभाविक नहीं। ये सुख दुःख उन्हीं को होते हैं जो देह को ही आत्मा माने रहते हैं। ऐसा ही कथन अन्यत्र भी पाया जाता है-

मुचांगं ग्लपयस्यलंक्षिपकुतोऽथक्षाश्च विद्रात्यदो।
दूरं धेहि न ह्रष्य एष किमभूरन्या न वेत्सि क्षणम्।
स्थेयं चेद्धि निरुद्धि गामिति तवोद्योगे द्विषःस्त्री क्षिपं-
त्याश्लेषक्रमुकांगरागललितालापैर्विधित्सूरतिम्।।१।।

अर्थ - इस श्लोक में दम्पतियुगल के वार्तालाप क़ा उल्लेख कर यह बतलाया गया है फि ``वे विषय जो पहिले अच्छे मालूम होते थे वे ही मन के दुःखी होने पर बुरे मालूम होते हैं।'' घटना इस प्रकार है- पति-पत्नी दोनों परस्पर में सुख मान लेटे हुए थे कि पति यकायक किसी कारण से चितिंत हो गया। पत्नी, पति से आलिंगन करने के लिहाज से अंगों को चलाने व रागयुक्त वचनालाप करने लगी किन्तु पति, जो कि चिन्तित था, कहने लगा ``मेरे अंगों को छोडो तू मुझे संताप पैदा करने वाली है, हट जा, तेरी इन क्रियाओं से मेरी छाती में पीड़ा होती है, दूर हो जाओ, मुझे तुम्हारी चेष्टाओं से बिलकुल ही आनन्द या हर्ष नहीं हो रहा है।

रम्यं हर्म्यं चन्दनं चन्द्रपादाः
वेणुर्वीणा यौवनस्था युक्त्यः
नैते रम्याः क्षुत्पिपासार्दितानाम्।
सर्वारंभास्तंदुलप्रस्थमूलाः।।१।।

रमणीक महल, चन्दन, चन्द्रमा की किरणे (चांदनी) वेणु वीणा तथा यौवनवती युवतियां

(स्त्रियां) ये सब भूख-प्यास से सताये हुए व्यक्तियों को अच्छे नहीं लगते। ठीक भी है, अरे ! सारे ठाठबाट सेर भर चांवलों के रहने पर ही हो सकते हैं। अर्थात् पेट भर खाने के लिये यदि अन्न मौजूद है तब्र तो सभी कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है अन्यथा (यदि भरपेट खाने को न हुआ तो) सुन्दर एवं मनोहर गिने ज़ाने वाले पदार्थ भी बुरे लगते हैं। इसी तरह और भी कहा है-

आतपे धृतिमता सह बध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन।
सेहिरे न किरण हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमलह्यम्।।

एक पक्षी (चिरवा) जो कि अपनी प्यारी चिरेया के साथ रह रहा था उसे घाम में रहते हुए भी संतोष और सुख मालूम देता था। रात के समय, जब वह अपनी चिरैया से बिछुड़ गया तब शीतल किरण वाले चन्द्रमा की किरणे को भी सहन (बरदाश्त) न कर सका। उसे चिरैया के वियोग में चन्द्रमा की ठंडी किरणों संताप व दुःख देने वाली ही प्रतीत होने लगीं। ठीक ही है, मन के दुःखी होने पर सभी कुछ असह्य हो जाता है कुछ भी भला या अच्छा नहीं मालूम होता।

इस सबसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रयों से पैदा होने वाला सुख, वासना मात्र ही है। आत्मा का स्वाभाविक एवं अनाकुलता रूप सुख, वासना मात्र नहीं है, वह तो वास्तविक है। यदि इन्द्रिय जन्य सुख, वासना मात्र-विभ्रम जन्य न होता तो संसार में जो पदार्थ सुख के पैदा करने वाले माने गये हैं वे ही दुःख के कारण कैसे हो जाते। अतः निष्कर्ष निकला कि देहधारियों का सुख केवल काल्पनिक ही है और इसी प्रकार उनका दुःख भी काल्पनिक है।।६।।

दोहा - विषयी सुख दुःख मानते हैं अज्ञान प्रसाद।
भोगरोगवत् कष्ट में तन मन करत विषाद।।

शंका - ऐसा सुन, शिष्य पुनः कहने लगा कि ``यदि ये सुख और दुःख वासना मात्र ही है तो वे लोगों को उसी रूप में क्यों नहीं मालूम पड़ते हैं ? आचार्य समझाते हुए बोले :-

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते नहि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः।।७।।

अन्वय - हि मोहेन संवृत्तं ज्ञानं तथैव स्वभावं न लभते यथा मदनकोद्रवैः मत्तः पुमान् पदार्थानां स्वभावं न लभते।

अर्थ - मोह से ढका हुआ ज्ञान, वास्तविक स्वरूप को वैसे ही नहीं जान पाता है जैसे कि मद पैदा करने वाले कोद्रव (कोदों) के खाने से नशैल-बे खबर-हुआ आदमी पदार्थों को ठीक २ रूप से नहीं जान पाता है।

विशदार्थ - मोहनीय कर्म के उदय से ढका हुवा ज्ञान वस्तुओं के यथार्थ (ठीक२) स्वरूप को प्रकाशन करने में दबी हुई सामर्थ्य वाला-ज्ञान, सुख-दुख शरीर आदिक पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। परस्पर में मेल रहने पर भी किसी विवक्षित (खास) पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जतलाने के लिये कारणी भूत धर्म को (भाव को) स्व असाधारण भाव कहते हैं अर्थात् दो अथवा दो से अधिक अनेक पदार्थो के बीच मिले रहने पर भी जिस असाधारण भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जान सके उसी धर्म को उस पदार्थ का स्वभाव कहते हैं।

ऐसी ही अन्यत्र भी कहा हैं :-

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैतप्रकरतः
कर्म्मविद्धात्मविज्ञप्ति स्तथानैक प्रकारतः।।१।।

अर्थ - मल सहित मणि का प्रकाश (तेज) जैसे एक प्रकार से न होकर अनेक प्रकार से होता है वैसे ही कर्मसंवद्ध आत्मा का प्रतिभास भी एक रूप से न होकर अनेक रूप से होता है।

मोहकर्म के उदय से वस्तुस्वभाव न पात।
मदकारी कोदों भखे उल्टा जगत लखात।।

यहां पर किसी का प्रश्न है कि :-

अर्मूत्त आत्मा का मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभवव कैसे हो सकता है।

उत्तर स्वरूप आचार्य कहते है कि :-

``नशे को पैदा करने वाले को द्रव-कोदों धान्य को खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है ऐसा पुरुष घट पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि

अमूर्त्त है फिर भी मूर्तिमान कोद्रवादि धान्यों से मिलकर वह बिगड़ जाता है उसी प्रकार अमूर्त्त आत्मा, मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दब जा सकते हैं।

``शरीर आदिकों के स्वरूप को न समझता हुआ आत्मा शरीरादिकों को किसी दूसरे रूप में ही मान बैटता है'' इसी अर्थ को आगे श्लोक में स्पष्ट रीत्या विवेचित करते हैं।

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते।।८।।

अन्वय - वपुः गृहं धनं द्वाराः पुत्राः मित्राणि शत्रवः सर्वथा अन्य स्वभावानि किन्तु मूढ़ः तानि स्वानि प्रपद्यते।

अर्थ - यद्यपि शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र मित्र, शत्रु आदि सब अन्य स्वभाव के लिये हुए पर-अन्य-हैं परंतु मूढ प्राणी-मोहनीय कर्म के जाल में फंसकर-इन्हें आत्मा व आत्मा के मानता हैं।

विशदार्थ - स्व और पर के विवेकज्ञान से रहित पुरुष शरीर आदिक पर पदार्थों को आत्मा व आत्मा के समझता रहता है अर्थात् दृढ़तम मोह से विशिष्ट प्राणी देहादिक को, (जो कि द्रव्य क्षेत्र काल भाव लक्षण रूप हरेक प्रकार से आत्म स्वभाव से भिन्न स्वभाव वाले है) ही आत्मा मानता या समझता रहता है और दृढतर मोह वाला प्राणी, उन्हीं व बैसे ही शरीरादिक को आत्मा नहीं, अपि तु आत्मा के मानता रहता है।

दोहा - पुत्र मित्र घर तन तिया धन रिपु आदि पदार्थ।
बिल्कुल निज से भिन्न हैं मानत मूढ निजार्थ।।

उत्त्थानिका-``शरीर आदिक पदार्थ जो कि मोहवान प्राणी के द्वारा उपकारक एवं हितू समझे जाते हैं, वे सब कैसे है'' इसको आगे श्लोक में उल्लिखित दृष्टांत द्वारा दिखलाते है :-

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे।।९।।

अन्वय - खगाः दिग्देशेभ्यः एत्य नगे नगे संवसंति, प्रगे प्रगे स्वस्वकार्य वशात् देशे दिक्षु यांति।

अर्थ - देखो ! भिन्न २ दिशाओं व देशों से उड़ उड़ कर आते हुए पक्षिगणा, वृक्षों पर आ रैन बसेरा करते है और सबेरा होने पर, अपने २ कार्य के वश से जुदी जुदी दिशाओं व देशों में उड़ जाते हैं।

जैसे पूर्व आदिक दिशाओं एवं अंग, बंग आदि विभिन्न देशों से उड़कर, पक्षिगण वृक्षों पर आ बैठते हैं, रात रहने तक वहीं बसेरा करते रहते हैं और सबेरा होने पर अनियत दिशा व देश की और उड़ जाते हैं-उनका यह नियम नहीं रहता कि जिस दिशा व जिस देश से आये हों उसी ओर जावें, वे तो कहीं से आते हैं और कहीं को चले जाते हैं-वैंसे ही संसारी जीव भी नरकगत्यादि रूप स्थानों से आकर, कुल में, अपनी आयु काल पर्यन्त रहते हुए मिलजुल कर रहते हैं और फिर अपने २ कर्मों के अनुसार, आयु के अंत में देवगत्यादि स्थानों में चले जाते हैं। हे भद्र ! जब यह बात है तब हित रूप से समझे हुए, सर्वथा अन्य स्वभाव वाले स्त्री आदिकों में तेरी आत्मा व आत्मीय बुद्धि कैसी? अरे ! यदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वरूप होते तो तुम्हारे तदवस्थ रहते हुए, अवस्थान्तरों की कैंसे प्राप्त हो जाते और यदि ये तुम्हारे स्वरूप नहीं अपि तु तुम्हारे होते तो प्रयोग के बिना ही ये जहां चाहे केसे चले जाते, अतः मोहनीय पिशाच के आवेश को दूर हटा, ठीक २ देखने की चेष्टा कर।

दोहा - दिशा देश से आयकर पक्षी वृक्ष वसन्त।
प्राप्त होत निज कार्य वश इच्छित देश उड़न्त।।

उत्थानिका - आचार्य आगे के श्लोक में शत्रुओं के प्रति होने वाले भावों को ``ये हमारे शत्रु हैं'' ``अहितकर्ता है'' आदि' अज्ञानपूर्ण बतलाते हुए उसे दृष्टान्त ज्ञारा समझाते है साथ ही ऐसे भावों दूर को करने के लिये प्रेरणा भी करते हैं :-

विराधकः कथं हंत्रे जनाथ परिकुप्यति।
त्र्यंगुलं पादयन् पदभ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते।।१०।।

अन्वय - विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति, त्र्यंगुलं पद् भ्यां पातयन् दण्डेन स्वयं पात्यते।

अर्थ - जिसने पहिले दूसरे को सताया या तक्लीफ पहुंचाई है ऐसा पुरुष, उस सताये गये और वर्तमान में अपने को मारने वाले की प्रति क्यों गुस्सा करता है ? यह कुछ

जँचता नही। अरे ! जो त्रांगुरा को पैरों से गिरायगा वह दंडे के द्वारा स्वयं गिरा दिया जायगा।

विशदार्थ - दूसरे का अपकार करने वाला मनुष्य, बदले में अपकार करने वाले के प्रति क्यों हर तरह से कुपित होता है कुछ समझ में नहीं आता

सुखं वा यदि वा दुःखं येन यश्च (स्य) कृते भुवि।
अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः।।

भाई ! सुनिश्चित रीति या पध्दति यही है कि संसार में जो, जिस को सुख या दुःख जो कुछ भी पहुंचाता है वह उसके द्वारा सुख और दुःख प्राप्त किया करता है। जब तुमने किसी दूसरे को दुःख पहुंचाया है तो वदले में तुम्हें भी उसके द्वारा दुख मिलना ही चाहिये, इसमें गुस्सा करनेकी क्या बात है अर्थात् गुस्सा करना अन्याय है, अयुक्त है। इसमें दृष्टांत देते हैं कि जो विना विचारे काम करने वाला पुरुष है वह तीन अंगुली के आकार वाले कूड़ा कचरा आदि के समेटने के काम में आने वाले ``अंगुल'' नामक यंत्र को पैरों से जमीन पर गिराता है तो वह विना किसी अन्य की प्रेरणा के स्वयं ही हाथ में पकडे हुए डंडे से गिरा दिया जाता है। इसलिये अहित करने वाले व्यक्ति के प्रति, अपना हितचाहने वाले बुद्धिमानों को, अप्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिये।

दोहा - अपराधी जन क्यों करे, हन्ता जनपर क्रोध।
दो पग आंगुल गहि नमे आपहि गिरत ओध।।

यहां पर शिष्य प्रश्न करता है कि स्त्री आदिकों में राग और शत्रुओं में द्वेष करने वाला पुरुष, अपना क्या अहित, बिगाड़ करता है जिससे उनको (रागद्वेषोंको) अकरणीय-न करने लायक-बतलाया जाता है, आचार्य समाधान करते हैं :-

रागद्वेषद्वयदिर्धिनेत्राकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ।।११।।

अन्वय - असौ जीवः अज्ञानात् रागद्वेषद्वयीदीर्धनेत्राकर्षण-कर्मणा संसाराब्धौ सुचिरं भ्रमति।

अर्थ - यह जीव अज्ञान से रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियों की खींचातानी से संसाररूपी समुद्र में बहुत काल तक धूमता रहता है-परिवर्तन करता रहता है।

विशदार्थ - द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव रूप पंच परावर्तनरूप संसार-जिसे दुःख का कारण

और दुस्तर होने से समुद्र के समान कहा गया है-में अज्ञान से-शरीरादिकोंमें आत्मभ्रांति से-अतिरीर्ध काल तक घूमता (चक्कर काटता) रहता है। इष्ट वस्तु में प्रीति होने को राग और अनिष्ट वस्तु में अप्रीति होनेको द्वेष कहते हैं इनकी शक्ति और व्यक्ति रूप से हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है इसलिये आचार्यों ने इन दोनों की जोडी बतलाई है बाकी के दोष इस जोडी में ही शामिल है जैसा कि कहा गया है :-

यत्र रागः पदं द्यते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः।
उभावेतौ समालंव्यविक्रमत्यधिकं मनः।।

जहां राग अपना पांव जमाता है वहां द्वेष अवश्य होता है या हो जाता है, यह निश्चय है। इन दोनों (राग-द्वेष) के आलम्बन से मन अधिक चंचल हो उठता है। और जितने दोष हैं वे सब राग द्वेष से संबद्ध हैं, रागद्वेष के अधीन हैं, जैसा कि कहा गया है-

आत्मनिसति परसंज्ञा स्वपर विभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिवद्धा; सर्वे दोषाश्च जायन्ते।।

निजत्व के होने पर पर का ख्याल हो जाता और जहां निज-पर का विभाग (भेद) हुआ वहां निज में रागरूप और पर में द्वेषरूप भाव हो ही जाते हैं बस इन दोनों के होने से अन्य समस्त दोष भीपैदा होने लग जाते है कारण कि वे सब इन दोनों के ही आश्रित हैं।

वह रागद्वेष की जोडी तो हुई मंथानी के डंडे को धुमाने वाली रस्सी के फांसा के समान और उसका घूमना कहलाया जीव का रागादिरूप परिणमन। सो जैसे लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि नेतरी के खींचातानी से जैसे मंथाल पर्वत को समुद्र में बहुत काल तक भ्रमण करना पडा उसी तरह स्वपर का विवेक ज्ञान न होनेसे रागादि परिणामों के द्वारा जीवात्मा अथवा कारण में कार्य का उपचार करनेसे, रागादि परिणाम जनित कर्मबंध के द्वारा बंधा हुआ संसारी जीव, अनादि कालसे संसारमें घूमरहा है, घूमा था और घूमता रहेगा। मतलब यह है कि ``रागादि परिणामरूप भावकर्मों से द्रव्य कर्मोका बन्ध होना और द्रव्य कर्मोका बंध होनेसे भाव कर्मोका होना'' ऐसा हमेशा से चला आरहा है और हमेशा तक चलता रहेगा सम्भव है किसी जीव के यह रुक भी जाय। जैसा कि कहा गया है :-

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तोदु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्भं कम्मादो हवदि गदिसु गदी।।१।।
गतिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंति।
तेहि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।।२।।
जायदि जीवस्सेवं भावोसंसार चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहि भणिअं अणाइणिहसणिण हण्णे वा।।३।।

जो संसार में रहनेवाला जीव है उसका परिणाम (रागद्वेष आदि रूप परिणमन) होता है उस परिणाम से कर्म बंधते हैं। बंधे हुए कर्मों के उदय होने से मनुष्यादि गतियों में गमन होता है, (मनुष्यादि गति में प्राप्त होनेवाले को (औदारिक आदि) शरीर का जन्म होता है, शरीर होने से इंद्रियों की रचना होती है, इन इंद्रियोंसे विषयों (रूप रसादि) का ग्रहण होता है, उससे फिर राग और द्वेष होने लग जाते हैं, इसप्रकार जीवका संसाररूपी चकवाल में भावपरिणमन होता रहता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है जो अनादि काल से होते हुए अनन्त काल तक होता रहेगा, हां, किन्ही भव्यजीवों के उसका अन्त भी हो जाता है।

मथत दूध डोरीनितें, दंड फिरत बहु बार।
रागद्वेष अज्ञान से जीव भ्रमत संसार।।

उत्थानिका - यहां पर शिष्य पूंछता है कि स्वामिन् ! माना कि मोक्ष में जीव सुखी रहता है किन्तु संसार में भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हरकत-कारण कि संसार के सभी प्राणी सुख को ही प्राप्त करना चाहते है जब जीव संसार में ही सुखी हो जाय तो फिर संसार की ऐसी क्या खराबी हैं जिससे कि संत पुरुष उसके नाश करने के लिये प्रयत्न किया करते हैं ? इस विषय में आचार्य कहते हैं-हे वत्स :-

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिबाह्यते।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुराः विपदः पुरः।।१२।।

अन्वय - यावत् भवपदावर्ते पदिका इव विपत् अतिबाह्यते तावत् अन्याः प्रचुराः विपदः पुरः भवन्ति।

अर्थ - जबतक संसाररुपी-पैर से चलाये जानेवाले घटीयंत्र में एक पटली सरीखी एक विपत्ति भुगतकर तप की जाती है कि उसी समय दूसरी २ बहुतसी विपत्तियां सामने

आ उपस्थित हो जाती हैं।

विशदार्थ - पैर से चलाये जानेवाले घटीयंत्र को पदावर्त कहते हैं, क्योंकि उसमें बार २ परिवर्तन होता रहता है, सो जैसे उसमें पैर से दबाई गई लकड़ी या पटली के व्यतीत हो जाने के बाद दूसरी पटलियां आ उपस्थित होती है उसी तरह संसाररूपी पदावर्त में एक विपत्ति के बाद दूसरी बहुत सी विपत्तियां जीव के सामने आखड़ी होती हैं.......

इसलिये समझो कि एक मात्र दुःखो की कारणीभूत विपत्तियों का कभी भी अन्तर न पड़ने के कारण यह संसार अवश्य ही विनाश करने योग्य है अर्थात् इसका अवश्य नाश करना चाहिये।

जबतक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय।
पदिका जिमि घटियंत्र में बारबार भरमाय।।

फिर शिष्य का कहना है कि, भगवन् ! सभी संसारी तो विपत्तिवाले नही है वहुत से सम्पत्तिवाले भी दीखने में आते हैं। इसके विषय में आचार्य कहते हैं :-

दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा।।१३।।

अन्वय - ज्वरवान् सर्पिषा इव कोऽपि जनः दुरर्ज्येन असुरक्षेण नश्वरेण धनादिना स्वस्थंमन्यः (भवति)।

अर्थ - जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी धी को खाकर या चिपड़ कर अपने को स्वस्थ माननें लग जाय उसी प्रकार कोई एक मनुष्य, मुश्किल से पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन हैं और फिर भी नष्ट हो जाने वाले हैं एसे धनआदिको से अपने को सुखी मानने लग जाता है।

विशदार्थ - जैसे कोई एक भोला प्राणी जो सामज्वर (ठंड देकर आनेवाले बुखार) से पीडित होरहा है, वह बुद्धि के ठिकाने सिर न रहने से-बुद्धि के बिगड जानेसे-धी को खाकर या उसकी मालिश कर लेने से अपने आपको स्वस्थ-नीरोग मानने लगता है उसीतरह कोई २ (सभी नहीं) धन दौलत स्त्री आदिक जिनका कि उपार्जित करना कठिन, रक्षण करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट होजानेवाले हैं-ऐसे इष्ट वस्तुओं में अपने आपको ``मैं सुखी हूं'' ऐसा मानने लग जाते है इसलिये समझो कि जो मुश्किलों से पैदा किये

जाते तथा जिनकी रक्षा बडी कठिनाई से होती है तथा जो नष्ट होजाते स्थिर नहीं रहते ऐसे धनादिकों से दुःख ही होता है, जैसा कि कहा है-

अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुखं धिगर्थं दुःखभाजनम्।।

धन के कमाने में दुःख, उसकी रक्षाकरने में दुःख, उसके आने मे दुःख, तथा चले जाने में दुःख इसतरह हर हालत में दुःख के कारण रूप धन को धिक्कार हो।

कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये नश्वर धन पुत्रादि।
इनसे सुख की कल्पना जिस घृत से ज्वर व्याधि।।

शंका - फिर भी शिष्य पूछता है कि बडे आश्चर्य की बात हैं कि जब ``मुश्किलों से कमायी जाती'' आदि हेतुओं से धना दिक संपत्ति दोनों लोकों में दुःख देनेवाली हैं तब ऐसी संपत्ति को लोग छोड क्यों नहीं देते ? आचार्य उत्तर देते हैं-

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।
दह्यमानमृगाकीर्णवनांतरतरुस्थवत्।।१४।।

अन्वय - दह्यमानमृगाकीर्णवनांतरतरुस्थवत् मूढः परेषामिव आत्मनो विपत्तिं नेक्षते।

अर्थ - जिसमें अनेकों हिरण दावानल की ज्वाला से जलरहे हैं ऐसे जंगल के मध्य में वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की तरह यह संसारी प्राणी दूसरों की तरह अपने ऊपर आनेवाली विपत्तियों का ख्याल नहीं करता है।

विशदार्थ - धनादिक में आसक्ति होने के कारण जिसका विवेक नष्ट होगया है ऐसा यह मूढ़ प्राणी चैरादिक के द्वारा की जानेवाली, धनादिक चुराये जाने आदिरूप अपनी आपत्ति को नही देखता है अर्थात् वह यह नहीं ख्याल करता कि जैसे दूसरे लोग बिपत्तियों के शिकार होते है उसीतरह मैं भी विपत्तियों का शिकार बन सकता हूं। यह धनमें लगी हुई आग इस वृक्षको और मुझे भी जला देगी। जैंसे ज्वालानल की ज्वलाओंसे जहां अनेक मृगगण झुलस रहे हैं, भुन रहे हैं, उसी वन के मध्यमें मौजूद वृक्षके ऊपर चढ़ाहुवा आदमी यह जानता है कि ये तमाम मृगगण ही घबडा रहे, छटपटा रहे एवं मरते जा रहे है इन विपत्तियों का मुझ से कोई संबंध नहीं, मैं तो सुरक्षित हूं विपत्तियों का संबंध दूसरों की सम्पत्तियों से है मेरी सम्पत्तियों से नहीं है।

पर की विपदा देखता अपनी देखे नाहिं।
जलते पशु जा बन विषें जड़ तरु पर ठहराहिं।।

फिर भी शिष्य का कहना है कि हे भगवन्। क्या कारण है कि लोगों को निकट आई हुई भी विपत्तियां दिखाई नहीं देतीं ? आचार्य जवाब देते हैं ``लोभात्'' लोभ के कारण'' है वत्स ! धनादिक की गुध्नता-आसक्ति-से धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्ति को नहीं देखते, कारण कि :-

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम्।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम्।।१५।।

अन्वय - आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं वांछतां धनिनां जीवितात् धनं सुंतरां इष्टम्।

अर्थ - काल का व्यतीत होना, आयु के क्षय का कारण है और कालांतरं के, माफिक ब्याज के, बढ़ने का कारण हैं ऐसे काल के व्यतीत होने को जो चाहते हैं समझना चाहिये कि उन्हें अपने जीवन से धन ज्यादा इष्ट है।

विशदार्थ - मतलब यह है कि धनियों को अपना जीवन उतना इष्ट नहीं जितना कि धन, धनी चाहता है कि जितना काल बीत जायगा उतनी ही व्याज की आमदनी बढ जायगी वह यह ख्याल नहीं करता कि जितना काल बीत जायगा उतनी ही मेरी आयु (जीवन) घट जायगी वह धनवृद्धि के ख्याल में जीवन (आयु) विनाश की ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं देता इसलिये मालूम होता है कि धनियोंको, जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन यादा अच्छा लगता है। इस प्रकार के व्यामोह का कारण होने से धन को धिक्कार हो।

आयुक्षय धनवृद्धि को कारण काल प्रमान।
चाहत हैं धनवान धन प्राणनि ते अधिकान।।

यहां पर शिष्य का कहना है कि धन जिससे पुण्य का उपार्जन किया जाता है। निंद्य-निंदा के योग्य क्यों हैं ? पात्रों को दान देना देव की पूजा करना आदि क्रियायें पुण्य की कारण हैं वे सब धन के बिना हो नहीं सकतीं इसलिये पुण्य का साधनरूप धन निंद्य क्यों ? वह तो प्रशंसनीय ही है इसलिये जैसे बने वैसेधन को कमा कर पात्रादिकों में देकर सुख के लिये पुण्य संचय करना चाहिये इस विषय में आचार्य कहते हैं :-

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति।।१६।।

अन्वय - यः अवित्तः श्रेयसे त्यागाय वित्तं संचिनोति स ``स्नास्यामि'' इति स्वशरीरं पंकेन विलंपति।

अर्थ - जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी इसलिये दान करने के लिये धन कमाता या जोड़ता है वह ``स्नान करलुंगा'' ऐसे ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ से लथेडता है।

अर्थ - जो निर्धन एसा ख्याल कर कि ``पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी इसलिये पात्र दानादि करने के लिये धन कमाना चाहिये'' नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है समझना चाहिये कि वह ``स्नान कर डालूंगा'' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड से लिप्त करता है खुलासा यह है कि जैसे कोई एक आदमी अपने निर्मल अंग को ``स्नान करूंगा'' का ख्याल कर कीचड से लिप्त कर डाले तो बेवकूफ ही गिना ज़ायगा उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय पीछे पात्र दानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूंगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुवा व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृत टीका में यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको विना यत्न किये हुए धन की प्राप्ति हो जाय वह उस धनसे कल्याण के लिये पात्रदानादिक, करे तो करे।

फिर किसी को भी धन का उपार्जन, शुद्धवृत्ति से हो भी नहीं सकता जैसा कि कहा हैः-

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
न हि स्वच्छांबुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंघवः।।

अर्थ - सत्पुरुषों की संपत्तियां, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं सो बात नहीं है, देखो, समुद्र, स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करते हैं।

पुण्य हेतु दानादि को निर्ध धन संचेय।
स्नान हेतु निजतन कुधी कीचड़ से लिम्पेय।।

उत्त्थानिका-फिर शिष्य कहता है कि भगवन् ! धन के कमाने में यदि ज्यादातर पाप

---

१ भोजन ताम्बूल आदि जो एक ही बार भोगने में आते हैं उन्हें भोग कहते हैं।
२ जो बार २ भोगने में आते हैं ऐसे स्त्री वस्त्र आदिको को उपभोग कहते हैं।

होता है और दुःख का कारण होने से धन निंद्य है तो धन के बिना भोग[1] और उपभोग[2] भी नहीं हो सकते इसलिये उनके लिये धन होना ही चाहिये और इस तरह धन प्रशंनीय माना जाना चाहिये। इस विषय में आचार्य कहते हैं कि ``यह बात भी नहीं है'' अर्थात् ``पुण्य का कारण होने से धन, प्रशंसनीय है'' यह जो तुमने कहा था सो वैसा ख्याल कर धन कमाना उचित नहीं यह पहिले ही बताया जा चुका है। ``भोग और उपभोग के लिये धन साधन है'' यह जो तुम कह रहे हो सो भी बात नहीं है यदि कहो क्यो ? तो उसके लिये कहते हैं :-

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः।।१७।।

अन्वय - आरंभे तापकान प्राप्तौ अतृप्तिप्रतिपादकान् अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कः सुधीः कामं सेवते।

अर्थ - आरंभ में संताप के कारण और प्राप्त होनेपर अतृप्ति के करने वाले तथा अंत में जो बडी मुश्किलों से भी छोडे नहीं जा सकते ऐसे भोगोपभोगो को कौन विद्वान्-समझदार-ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा ?

विशदार्थ - भोगोपभोग कमाये जाने के समय, शरीर-इंद्रिय और मन को क्लेश पहुंचाने के कारण होते हैं यह सभी जन जानते हैं कि गेहूं, चना जौ आदि अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के पैदा करने के लिये खेती करने में एडी से चोटी तक पसीना बहाना आदि दुःसह क्लेश हुआ करते हैं। कदाचित् यह कहो कि भोगे जारहे भोगोपभोग तो सुख के कारण होते हैं इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध होने पर वे अतृप्ति यानी बढ़ी हुई तृष्णा के कारण होते हैं जैसा कि कहा गया है :-

``अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति''

ज्यो २ संकल्पित किये हुए भोगोपभोग, प्राप्त होते हैं त्यों २ मनुष्यों की तृष्णा बढ़ती हुई सारे लोक में फैल जाती है मनुष्य चाहता है कि अमुक मिले उसके मिल जाने पर आगे बढ़ता है कि अमुक और मिल जाय उसके भी मिल जाने पर मनुष्य की तृष्णा दुनियां के समस्त ही पदार्थों को चाहने लग जाती है कि वे सब ही मुझे मिल जांय। अच्छा,

यदि यथेष्ट भोगोपभोगों को भोगकर तृप्त हो जांय तब तो तृष्णारूपी संताप ठंडा पड़ जायगा इसलिये वे सेवन करने योग्य हैं आचार्य कहते हैं कि वे भोगलेने के अंत में छोड़े नहीं जा सकते अर्थात् उनके खूब भोग लेने पर भी मन की आसक्ति नहीं हटती जैसा कि कहा भी है :-

``दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः
नतु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलुकापि कर्मणः''

यद्यपि अग्नि, घास लकड़ी आदि के ढेर से तृप्त हो जाय। समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाय परन्तु यह पुरुष इच्छित सुखों से कभी भी तृप्त नहीं होता। अहो ! कर्मों की कोई ऐसी ही बलवत्ता-सामर्थ्य या जबर्दस्ती है। और भी कहा है :-

किमपीदं विषयमयं विषमति विषमं पुमानयं येन।
प्रसभमनुभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते।।

अहो ! यह विषयमयी विष कैसा गजब का विष है कि जिसे जबर्दस्ती खाकर यह मनुष्य, भव भव में नहीं चेत पाता है।

इस तरह आरम्भ, मध्य ओर अंत में क्लेश-तृष्णा एवं आसक्ति के कारण भूत इन भोगोपभोगों को कौन बुद्धिमान् इंद्रिय रूपी नलियों से अनुभवन करेगा ? कोई भी नहीं।

यहां पर शिष्य शंका करता है कि तत्वज्ञानियों ने भोगों को न भोगा हो यह सुनने में नहीं आती अर्थात् बडे २ तत्त्वज्ञानियों ने भी भोगों को भोगा है यही प्रसिद्ध है तब ``भोगों को कौन बुद्धिमान-तत्वज्ञानी सेवन करेगा ?'' यह उपदेश कैसे मान्य किया जाय-इस बात पर कैसे श्रद्धान किया जाय। आचार्य जवाब देते हैं कि हमने उपर्युक्त कथन के साथ ``कामं-अत्यर्थं'' आसक्ति के साथ रूचि पूर्वक'' यह भी विशेषण लगाया है, तात्पर्य यह है कि चारित्रमोह के उदय से भोगों को छोड़ने के लिये असमर्थ होते हुए भी तत्वज्ञानी पुरुष, भोगों को त्याज्य-छोड़ने योग्य-समझते हुए ही सेवन करते हैं और जिसका मोहोदय मंद पड़ गया है वह, ज्ञान-वैराग्यकी भावना से इन्द्रियों को रोककर-इन्द्रियों को वश में कर-शीघ्र ही अपने (आत्म) कार्य करने के लिये कटिवद्ध-तय्यार-हो जाता है जैसा कि कहा गया है :-

इदं फलमियं क्रिया करणेमेतदेषःक्रमो।
व्ययोऽयमनुषंगजंफलमिदं दशेयं मम
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेशकालाविमा-
विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधोनेतरः।।

यह फल है, यह क्रिया है, यह करण है, यह क्रम-सिल-सिला है यह खर्च है यह आनुषंगिक (ऊपरी) फल है यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश है, यह काल है, इन सब बातों पर ख्याल देते हुए बुद्धिमान पुरुष प्रयत्न किय करता है मूर्ख ऐसा नहीं करता।

भोगार्जन दुःखद महा भोगत तृष्णा बाढ़।
अंतत्यजत गुरु कष्ट हो को बुध भोगत गाढ़।।

उत्थानिका - आचार्य फिर और भी कहते हैं कि जिस (काय) के लिये सब कुछ (भोगोपभोगादि) किया जाता है वह (काय) तो महा अपवित्र है जैसा कि आगे बताया जाता है:-

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचिन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा।।१८।।

अन्वय - यत्संगप्राप्य शुचीन्यपि अशुचीनि भवन्ति स कायः संततापायः तदर्थं प्रार्थना वृथा।

अर्थ - जिसके संबंध को पाकर-जिसके साथ भिड़कर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं वह शरीर, हमेशा अपायों उपद्रवों झंझटों विध्नों एवं विनाशों कर सहित है इसलिये उसके लिये भोगोपभोगों का चाहना व्यर्थ है !

विशदार्थ - जिस शरीर के साथ संबन्ध करके पवित्र एवं रमणीक भोजन वस्त्र आदिक पदार्थ भी हैं अपवित्र घिनोने हो जाते हैं ऐसा वह शरीर हमेशा भूख प्यास आदि संतापों कर सहित है। जब वह ऐसा है तब उसके लिये पवित्र अच्छे २ पदार्थों से भला बनावे के लिये आकांक्षा करना फिजूल है कारण कि किसी उपाय से यदि उसका एकाध अपाय दूर भी किया जाय तो क्षण क्षण में दूसरे २ अपाय आखडे हो सकते हैं।

शुचि पदार्थ भी संग ते महा अशुचि हो जाय।
विध्न करण नित काय हित भोगेच्छा विफलाय।।

उत्थानिका - फिर भी शिष्य का कहना है कि भगवन् काय के हमेशा अपायवाले

होने से यदि धनादिक के द्वारा काय का उपकार नहीं हो सकता तो आत्मा का उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्या से ही नहीं बल्कि धनादि पदार्थों से भी हो जायगा।

आचार्य उत्तर देते हुए बोले, ऐसी बात नहीं है कारण कि :-

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यायकारकं।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्।।१९।।

अन्वय - यत् जीवस्य उपकारय तत् देहस्य अपकारकं भवति, तथा यत् देहस्य उपकाराय तत् जीवस्य अपकारकं भवति।

अर्थ - जो जीव (आत्मा) का उपकार करने वाले होते हैं वे शरीर का अपकार (बुरा) करने वाले होते हैं। जो चीजें शरीर का हित या उपकार करने वाली होती हैं वही चीजें आत्मा का अहित करने वाली होती हैं।

विशदार्थ - देखो ! जो अनशनादि तप का अनुष्ठान करना, जीव के पुराने व नवीन पापों को नाश करने वाला होने के कारण, जीवके लिये उपकारक है, उसकी भलाई करने वाला है, वही आचरण या अनुष्टान, चूंकि शरीर में ग्लानि शिथिलतादि भावो को कर देता है अतः उसके लिये अपकारक है, उसे कष्ट व हानि पहुंचाने वाला है। और धनादिक जो हैं वे, चूंकि भोजनादिक के उपयोग द्वारा क्षुधादिक पीड़ओं को दूर करने में सहायक होते हैं अतः वे शरीर के उपकारक हैं किन्तु उसी धन का अर्जनादिक पाप पूर्वक होता है, व पाप पूर्बक होने से दुर्गति के दुःखो की प्राप्ति के लिये कारणीभूत है अतः वह जीवका अहित या बुरा करने वाला है। इसलिये यह समझ रक्खो कि धनादिक के द्वारा जीवका लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता, उसका उपकारक तो धर्म ही है। उसी का अनुष्ठान करना चाहिये।

आतम हित जो करत है, सो तन को अपकार।
जो तन का हित करत है सो जिय को अपकार।।१९।।

अथवा काय का हित सोचा जाता है अर्थात् काय के द्वारा होने वाले उपकार का विचार किया जाता है-देखिये ! कहा जाता है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' शरीर धर्म सेवन का मुख्य साधन-सहारा-है इतना ही नहीं, उसमें यदि रोगादिक होजाते हैं तो उन के दूर करने के लिये प्रयत्न भी किये जाते हैं। काय के रोगादिक अपायों का दूर किया

जाना मुश्किल भी नहीं है कारण कि ध्यान के द्वारा वह (रोगादिक का दूर किया जाना) आसानी से कर दिया जाता है, जैसा कि कहा गया है -

``यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्।

एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम्।।

जो इस लोक संबन्धी फल है या जो कुछ परलोक संबन्धी फल है उन दोनों ही फलोंका प्रधान कारण ध्यान ही है। मतलब यह है कि ``झाणस्स ण दुल्लहं किंपि'' ध्यान के लिये कोई भी व कुछभी दुर्लभ नहीं है, ध्यानसे सबकुछ मिलसकता है। इसविषय में आचार्य निषेध करते हैं कि ध्यान के द्वारा काय का उपकार नहीं चिंतवन करना चाहिये :-

इतश्चिंतामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकम्।

ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियंतां विवेकिनः।।२०।।

अन्वय - इतो दिव्यश्चिंतामणिः इतश्च पिण्याकखंडकम् चेत् ध्यानेनउभे लभ्ये विवेकिनः क्व आद्रिंयताम्।

अर्थ - इसी ध्यान से द्वियचिंतामणि मिल सकती है इसीसे खलौ के टुकडे भी मिल सकते हैं जब कि ध्यानके द्वारा दोनों मिल सकते हैं तब विवेकी लोग किस ओर आदर बुद्धि करेंगे ?

विशदार्थ - एक तरफ तो देवाधिष्ठित-चिन्तित अर्थ को देने वाला चिन्तामणि और दूसरी ओर बुरा व छोटा सा खलौ का टुकड़ा ये दोनों भी यदि ध्यान के द्वारा अवश्य मिल जाते हैं तो कहो दोनों में से किसकी ओर विवेकी-लोभ के नाश करने के विचार करने में चतुर पुरुष-आदर करेंगे। इसलिये इसलोक संबन्धी फल काय की निरोगिता आदि की अभिलाषा को छोड़कर परलोक संबन्धी फल की सिद्धि-प्राप्ति के लिये ही आत्मा का ध्यान करना चाहिये। कहा भी है कि :-

``तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनाम्

तस्मादेतत् परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम्''

वह सब रौद्रध्यान या आर्त्तध्यान हैं जो इसलोक संबन्धी फल के चाहने वाले को होता है इसलिये रौद्र व आर्त्तध्यान को छोड़कर धर्म्यध्यान व शुक्ल ध्यान की उपासना करनी चाहिये।

दोहा - इत चिंतामणि है महत उत खल टूक असार।
ध्यान उभय यदि देत बुध किसको मानत सार।।

अब वह शिष्य जिसे समझाये जाने से श्रद्धान उत्पन्न हो रहा है पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्य रूप से बत-लाया है वह कैसा है, उस आत्मा का क्या स्वरूप है, आचार्य कहते है :-

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः।।२१।।

अन्वय - आत्मा, लोकालोकविलोकनः अत्यन्तसौख्यवान् तनु मात्रः निरत्ययः स्वसंवेदनसुव्यक्तः (अस्ति)।

अर्थ - आत्मा, लोक और अलोक को देखने जानने वाला, अत्यन्त अनन्त सुख स्वभाववाला, शरीर प्रमाण, नित्य, स्वसंवेदन से तथा कहे हुए गुणों से योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभव में आया हुआ है।

विशदार्थ - जीवादिक द्रव्यों से घिरे हुए आकाश को लोक और उससे अन्य सिर्फ आकाश को अलोक कहते हैं उन दोनों को विशेष रूप से उनके समस्त विशेषों में रहते हुए जो जानने देःखनेवाला है वह आत्मा है ऐसा कहने से ``ज्ञानशून्यंचैतन्यमात्र मात्मा'' ज्ञान से शून्य सिर्फ चैतन्य मात्र ही आत्मा है'' ऐसा सांख्य मत तथा ``बुध्द्यादिगुणोज्झितः पुमान्'' बुध्दि सुख दुखादि गुणोंसे रहित पुरुष है'' ऐसा योगमत-खंडित हुवा समझना चाहिये और बौद्धों का ``नैरात्म्यवाद'' भी खंडित हो गया। फिर बतलाया गया है कि ``वह आत्मा अत्यन्त सौख्यवान अनंतसुखस्वभाव वाला है'' ऐसा कहने से सांख्य और यौगमत खंडित हो गया। फिर कहा गया कि वह ``तनुमात्रः'' ``अपने द्वारा ग्रहण कियेगये शरीर परिणाम वाला है'' ऐसा कहने से जो लोग कहते हैं कि ``आत्मा व्यापक है'' अथवा ``आत्मा वटकणिका मात्र है'' उसका खंडन होगया। फिर वह आत्मा ``निरत्ययः'' ``द्रव्य रूपसे नित्य है'' ऐसा कहने से जो चार्वाक यह कहता था कि ``गर्भ से लगाकर मरणपर्यन्त ही जीव रहता है'' उसका खंडन हो गया।

यहां पर किसी की यह शंका है कि प्रमाण सिद्ध वस्तु का ही गुणगान करना उचित है परन्तु आत्मा में प्रमाण सिध्दता ही नहीं है-वह किसी प्रमाण से सिध्द नहीं है-तब ऊपर

कहे हुए विशेषणों से किसका और कैसा गुणवाद ? एसी शंका होने पर आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा ``स्वसंवेदन सुव्यक्त'' है, स्वसंवेदन नामक प्रमाण के द्वारा अच्छी तरह प्रगट है।

``वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्यस्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम्।।''

जो योगी में खुदका वेद्यत्व व खुद के द्वारा वेदकत्व होता है बस वही स्वसंवेदन कहलाता है उसी को आत्मा का अनुभव व दर्शन कहते हैं अर्थात् जहां आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है चैतन्य की उस परणति को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं, उसी को आत्मानुभव व आत्मदर्शन भी कहते हैं। इस प्रकार के स्वरूपवाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष (जो कि सब्र प्रमाणों में मुख्य या अग्रणी प्रमाण है) से तथा कहे हुए गुणों से सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगीजनों को एक देश विशदरूप से अनुभव में आता है।

दोहा - निज अनुभव से प्रगट है, नित्य शरीर प्रमाण।
लोकालोक निहारता आतम अति सुखवान।।

यहां पर शिष्य कहता है कि यदि इस तरह का आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिये। इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करने के उपायों को पूंछा गया है।

आचार्य कहते हैं :-

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्भनि स्थितं।।२२।।

अन्वय - क़रणग्रामं संयम्य चेतसः एकाग्रत्वेन आत्मवान् आत्मनिस्थितं आत्मानं आत्मना एव ध्यायेत्।

अर्थ - मन की एकाग्रता से इन्द्रियों को वशमें कर ध्वस्त करदी है स्वच्छन्द वृति जिसने ऐसा पुरुष अपने में ही स्थित आत्मा को अपने ही द्वारा ध्यावे।

विशदार्थ - जिसने इन्द्रिय और मनको रोक लिया है अथवा जिसने इन्द्रिय ओर मन की उच्छृंखल एवं स्वैराचाररूप प्रवृत्ति को ध्वस्त कर दिया है ऐसा आत्मा, जिसका स्वरूप पहिले (नं. २१ के श्लोक में) बता आये हैं आत्मा को आत्मा से ही यानी स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष ज्ञान से ही ध्यावे कारण कि स्वयं आत्मा में ही उसकी ज्ञप्ति (ज्ञान) होती है, उस

ज्ञप्ति में और कोई करणान्तर नहीं होते। कहा गया है कि -

स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात् न तस्य करणान्तरम्।
ततश्चिंतां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम्।।

वह आत्मा, स्वपर प्रतिभासस्वरूप है वह स्वयं ही स्वयं को जानता है और पर को भी जानता है। उसमें उससे भिन्न अन्य करणों की आवश्यकता नहीं है इसलिये चिन्ता को छोड़कर स्वसंवित्ति-स्वसंवेदन-के द्वारा ही उसे जानो जो कि खुद में ही स्थित है कारण कि परमार्थ से सभी पदार्थ स्वरूप में ही रहा करते हैं। इसके लिये उचित है कि मनको एकाग्रकर चक्षुरादिक इंद्रियों को अपने २ विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति करे। यहां पर संस्कृत टीकाकार पंडित आशाधरजी ने ``एकाग्र'' इस शब्दके दो अर्थ प्रदर्शित किये हैं। एक कहिये विवक्षित, कोई एक आत्मा अथवा कोई एक द्रव्य अथवा पर्याय वही हैं अग्र कहिये प्रधानता से आलम्बनभूत विषय जिसका ऐसे मनको कहेंगे `एकाग्र' अथवा एक कहिये पूर्वापर पर्यायों में अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तमान द्रव्य-आत्मा-वही है अग्र-आत्मग्राह्य जिसका ऐसे मनको कहेंगे एकाग्र।

सारंश यह है कि जहां कहीं अथवा आत्मा में,ही श्रुतज्ञान के सहारे से भावना युक्त हुए मनके द्वारा इन्द्रियों को रोक कर स्वात्मा की भावना कर उसीमें एकाग्रता को प्राप्त कर चिन्ता को छोड़कर स्वसंवेदन के ही द्वारा आत्मा का अनुभव करे जैसा कि कहा भी है :-

गहियं तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्जा।
जो णहु सुदमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे।।

अर्थ - उस (आत्मा) को श्रुतज्ञान के द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभव करे। जो श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं लेता वह आत्मस्वभाव के विषय में गडबड़ा जाता है। इसी तरह यह भी भावना करे कि :-

``प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयिस्थितम्
बोधात्मानं प्रयत्नोऽस्मि परमानन्द निर्वृतम्''

मैं इंद्रियों के विषयों से अपने को हटाकर अपने में स्थित ज्ञान स्वरूप एवं परमानन्दमयी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुवा हूं।

मनको कर एकाग्र सब इंद्रिय विषय मिटाय।
आतमज्ञानी आत्म में निज को निज से ध्याय।।

यहां पर शिष्य का कहना है कि भगवन् ! आत्मा से अथवा आत्मा की उपासना करने से क्या मतलब सरेगा-क्या फल मिलेगा-क्योंकि विचारवानों की प्रवृत्ति तो फल ज्ञान पूर्वक हुवा करती हैं इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य जवाब देते हैं :-

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रय।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः।।२३।।

अन्वय - अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानिसमाश्रयः ज्ञानं ददाति ``यत्तु यस्य अस्ति तदेव ददाति'' इदं सुप्रसिद्धं वचः।

अर्थ - अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित शरीरादिक की सेवा, अज्ञान को देती है और ज्ञानी पुरुषों की सेवा ज्ञान को देती है यह बात प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो कुछ होता हैं वह उसी को देता है दूसरी चीज को जो अपने पास नहीं दूसरे को कैंसे दे देगा।

विशदार्थ - अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं एक तो ज्ञान रहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्याज्ञान (मोह-भ्रांति-संदेह) वाले मूढ़-भ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक, सो इनकी उपासना यासेवा, अज्ञान तथा मोह-भ्रम-व संदेह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञान को देती है और ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञानसंपन्न गुरुओं की तत्परता के साथ सेवा, स्वार्थावबोधरूप ज्ञान को देती है जैसा कि कहा भी है :-

``ज्ञानमेव फलं ज्ञाने नतु श्लाध्यमनश्वरम्
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते''

ज्ञान के होने का फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञान का होना ही है यह निश्चय से जानो। अहो ! यह मोहका ही माहात्म्य हैं जो इसमें ज्ञानको छोड कुछ और ही फल ढूंढ़ा जाता है ज्ञानात्मा से ज्ञानकी ही प्राप्ति होना न्याय्य है, इसलिये हे भद्र ! ज्ञानी की उपासना करके प्रगट हुई है स्वपर विवेक रूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा में ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करने के योग्य है।

दोहाः - अज्ञभक्ति अज्ञान को, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान।
लोकोक्ति जो जो धरे, करे सो नाकोदान।।

यहां फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानी को क्या फल मिलता है ? इसमें स्वात्मनिष्ठ योगी की अपेक्षासे स्वात्मध्यान का फल पूंछा गया है।

आचार्य कहते हैं -

परीषहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा।।२४।।

अन्वय - अध्यात्मयोगेन परीषहाद्यविज्ञानात् आश्रवस्य निरोधनी कर्मणां निर्जरा आशु जायते।

अर्थ - आत्मा में आत्मा का चिंतवन रूप ध्यान से, परीषहादिक का अनुभव न होने से, कर्मों के आगमन को रोकने वाली, कर्म-निर्जरा शीघ्र होती है।

विशदार्थ - अध्यात्मयोगसे-आत्मा में आत्मा का ही ध्यान करने से-कर्मो की निर्जरा (एकदेश से कर्मों का क्षय होजाना कर्मो का संबंध छूट जाना) हो जाती है। उसमें भी जो सिद्धयोगी हैं उनके तो अशुभ तथा शुभ दोनों ही प्रकारो के कर्मोकी निर्जरा होजाती और जो साध्ययोगी है उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। कोरी निर्जरा होती हो सो वात नहीं, अपि तु भूख-प्यास आदि दुःखभेदों (परीषह) की तथा देवादिकों के द्वारा किये गये उपसर्गो की बाधा को अनुभव में न लाने से कर्मों के आगमन (आस्त्रव) को रोकदेनेवाली निर्जरा होती है। जैसा कि कहा भी है :-

यस्य पुण्यं च पापं च निःफलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वार्णं न तस्य पुनराश्रवः।।

जिसके पुण्य और पापकर्म, विना फल दिये स्वयमेय (अपने आप) गल जाते हैं, खिर जाते हैं, वही योगी है, उसको निर्वाण होजाता है। उसके फिर नवीन कर्मोका आगमन नहीं होता। इस श्लोक द्वारा पुण्य पापरूप दोनों ही प्रकार के कर्मों की निर्जरा होना बतलाया गया हैं ओर भी कहा है -

तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्जरा संवरश्चास्य सकलाशुभ कर्मणाम्।।

तत्त्वानु०

चरमशरीरी के ध्यान का फल कह देने के बाद आचार्य, अचरमशीरी के ध्यान का फल बतलाते हुए कहते हैं कि जो सदा ही ध्यान का अभ्यास करने वाला है परन्तु जो अचरमशरीरी है, (तद्भवमोक्षगामी नहीं है) ऐसे ध्याताको सम्पूर्ण अशुभ कर्मों की निर्जरा व संवर होता है अर्थात् वह प्राचीन एवं नवीन समस्त अशुभ कर्मों का संवर तथा निर्जरा करता है। इस श्लोक द्वारा पापरूप कर्मो की ही निर्जरा, व उनका संवर होना बतलाया गया है। और भी कहा है-

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः।
तपसा दुःकृतं धोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते।।

समाधि शतक

आत्मा व शरीर के विवेक [भेद] ज्ञान से पैदाहुए आनन्द से परिपूर्ण (युक्त) योगी, तपस्या के द्वारा भयंकर उपसर्गों व घोरी परीषहों को भोगते हुए भी खिन्न नहीं होता।

यह सब व्यवहार नय से कहा जाता है कि बन्धवाले कर्मो की निर्जरा होती है, परमार्थसे नहीं। कदाचित् तुम कहो कि एसा क्यों ? तो आचार्य कहते हैं कि वत्स ! सुनो चूंकि एकदेश से संबन्ध छूटजाना इसी को निर्जरा कहते हैं वह निर्जरा, कर्म की (चित्सामान्य के साथ अन्वयव्यतिरेक रखनेवाले पुद्गलों के परिणाम रूप द्रव्यकर्म की) होसकती है, क्योंकि संयोगपूर्वक विभाग, दो द्रव्यों में ही बन सकता है अब जरा बारीक दृष्टि से विचार करो कि उससमय जब कि योगी पुरुष, स्वरुपमात्र में अवस्थान कर रहा है उस समय द्रव्यकर्म का आत्मा के साथ संयोगादि संबन्धों में से कौन सा सम्बंध हो सकता है ? मतलबयह है कि किसी तरह का सम्बंध नहीं बन सकता। जिस समय आत्मा ही ध्यान और ध्येय होजाता है उस समय हर तरह से आत्मा पर द्रव्यों से व्यावृत्त हो कर केवल स्वरूप में ही स्थित हो जाता है तब उसका दूसरे द्रव्य से संबंध कैसा ? क्योंकि संबन्ध तो दो में रहा करता है अकेले एक में नहीं।

यह भी नहीं कहना कि इस तरह की अवस्था, संसारी जीव में नहीं पाई जाती कारण कि संसाररूपी समुद्र तट के निकटवर्ती अयोगी जनों का मुक्तात्माओं की तरह पंच ह्स्व अक्षर (अ इ उ ॠ ऌ) के बोलने में जितना काल लगता है उतने काल तक वैसा (निर्बन्ध बन्ध रहित) रहना सम्भव है।

शीघ्र ही जिनके समस्त कर्मों का नाश होनेवाला है ऐसे जीवों (चोदहवें गुणस्थान वाले जीवों) में भी उत्कृष्ट शुक्ललेश्या के संस्कार के वश से उतनी देर (पंच स्व अक्षर बोलने में जितना समय लगता है उतने समय) तक कर्म परतंत्रता का व्यवहार होता है जैसा कि परमागम में कहा गया है-

``सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्से स आसवो जीवो
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि''

जो शीलों के ईशित्व (स्वाभित्व) को प्राप्त हो गया है जिसके समस्त आश्रव रुकगये हैं तथा जो कर्मरूपी धूली से रहित हो गया है वह गतयोग (अयोग) केवली होता है।

परषहादि अनुभव विना आत्म ध्यान प्रताप।
शीघ्र ससंवर निर्जरा होत कर्म की आप।।

उपरिलिखित अर्थको बतलाने वाला और भी श्लोक सुनो :-

कटस्य कर्ताहमिति संबंधः स्याद्द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबंधः कीदृशस्तदा।।२५।।

अन्वय - अहं कटस्यकर्ता इतिद्वयोर्द्वयोः संबन्धः स्यात्, यदा आत्मैव ध्यानं ध्येयं तदा कीदृशः संबंधः।

अर्थ - ``मैं चटाई का बनानेवाला हूं'' इस तरह जुदे २ दो पदार्थों में सम्बन्ध हुवा करता है जहां आत्मा ही ध्यान ध्याता (ध्यान करने वाला) और ध्येय हो जाता है, वहां संबन्ध कैसा ?

विशदार्थ - लोक प्रसिद्ध तरीका तो यही है कि किसीतरह भिन्न (जुदे २) दो पदार्थो में संबन्ध हुवा करता है जैसे ``बांस की खपच्चियों से जलादिक के संबंधसे बननेवाली चटाईका मैं कर्त्ता हूं बनाने वाला हूं। यहां बनाने वाला ``मैं'' जुदा हूं और बनने वाली ``चटाई'' जुदी है तभी उनमें ``कतृकर्म'' नाम का संबंध हुवाकरता है इस प्रकार संबंध द्विष्ठ (दों में रहनेवाला) हुवा करता है इस को बतलाकर, प्रकृत में वह बात (भिन्नता) बिलकुल भी नहीं है इसको दिखलाते है।

``ध्यायते येन, ध्यायति वा यस्तद्ध्यानं, ध्याति क्रियां प्रतिकरणं कर्त्ताच''-जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करने में करण हो-साधन हो-उसे ध्यान कहते है तथा

जो ध्याता है-ध्यान का कर्त्ता-है उसे भी ध्यान कहते है जैसा कि कहा भी है :-

``ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा''

``ध्यायते इति ध्येयं, ध्याति क्रिययाव्याप्यम्''

जो ध्येञ् चिन्तायाम् धातु का व्याष्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे उसे ध्येय कहते हैं परंतु जब आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है तब संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्यकर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का संबन्ध होगा जिससे कि ``अध्यात्मयोग से कर्मो की शीघ्र निर्जरा हो जाती है'' यह बात परमार्थ से कही जावे, भावार्थ यह है कि आत्मा से कर्मो का संबंध छूटजाना निर्जरा कहलाती है परंतु जब उत्कृष्ट अद्वैत ध्यानावस्था में किसी भी प्रकार कर्म का सम्बन्ध नहीं, तब छूटना किसका ? इसलिये सिद्धयोगी कहो या गतयोगी अथवा अयोग केवली कहो, उनमें कर्मों की निर्जरा होती है यह कहना व्यवहारनय से ही है, परमार्थ से नहीं।

``कटका मैं कर्तार हूं'' यह है द्विष्ठ संबन्ध।
आप हि ध्याता ध्येय जहां कैसे भिन्न संबन्ध।।

यहांपर शिष्य का कहना है कि भगवन् ! यदि आत्मद्रव्य और कर्मद्रव्य का अध्यात्मयोग के बल से बन्ध न होना बतलाया जाता है तो फिर किस प्रकार से उन दोनों में (आत्मा और कर्मरूप पुदगल द्रव्यों में) परस्पर एक के प्रदेशों में दूसरे के प्रदेशों का मिलजाना रूप बंध होगा, क्योंकि बन्धाभाव तो बंध पूर्वक ही होगा और बंध का प्रतिपक्षी, संपूर्ण कर्मो की विमुक्तावास्था रूप मोक्ष भी जीव को कैसे बन सकेगा जो कि अविच्छिन्न अविनाशी सुख का कारण होने से योगियों के द्वारा प्रार्थनीय हुवा करता है ?

आचार्य कहते है :-

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत्।।२६।।

अन्वय - समम: निर्मम: जीव: क्रमात् बध्यते मुच्यते तस्मात् सर्व प्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्।

अर्थ - ममतावाला जीव बंधता है और ममता रहित जीव मुक्त होता है इसलिये हर तरह से पूरी कोशिश के साथ निर्ममता का ही ख्याल रक्खे।

विशदार्थ - अव्वयों के अनेक अर्थ होते हैं इसलिये ``मम'' इस अव्वय का अर्थ ``अभिनिवेश''

है इसलिये ``समम'' कहिये ``मेरा यह है'' इस प्रकार के अभिनिवेश वाला जीव भी कर्मो से बन्धता है। उपलक्षण से यहभी अर्थ लगा लेना कि ``मैं झसका हूं'' ऐसे अभिनिवेश वाला जीव भी बंधता है जैसा कि कहा भी है :

``न कर्म बहुलं जगन्नवलनात्मकं कर्म वा।
न चापि करणनि वा न चिदचिद्वघो बंघकृत्।।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः।
स एव किल केवलं भवति बं धहेतुनृणाम्।।

अर्थ - न तो कर्म परमाणुवो से भरा हुवा यह जगत्, बंध का कारण है और न हलन चलनादि रूप क्रिया ही, न इंद्रियां कारण हैं और न चेतन अचेतन पदार्थों का विनाश करना ही बन्ध का कारण है किन्तु जो उपयोगरूपी जमीन, रागादिकों के साथ एकता को प्राप्त होती है सिर्फ वही अर्थात् जीवों का रागादिक सहित उपयोग ही बन्ध का कारण है। यदि वही जीव निर्मम-रागादि रहित-उपयोग वाला हो जाय तो कर्मों से छूट जाता है। कहा भी है कि :-

``अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपत्तिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोत्कं रहस्यं परमात्मनः।।

मैं अकिंचन हूं. मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठ रहो और तीन लोक के स्वामी हो जावो। यह तुम्हें बडे २ योगियों के द्वारा जाने जासकने लायक परमात्मा का रहस्य बतला दिया है

अथवा :- ``रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुंचति।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बंधमोक्षयोः।।

रोगी जीव, कर्मों को बांधता है। रागादि से रहित हुवा जीव मुक्त होजाता है बस यही संक्षेप में बंध मोक्ष विषयक जिनेन्द्र का उपदेश है जब कि ऐसा है तब हरएक प्रयत्न से व्रतादिकोंमें चित्त लगाकर अथवा मन वचन काय की सावधानता से निर्ममता का ही ख्याल रखना चाहिये

``मत्तः कायदयो भिन्ना स्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन्''।।

``शरीरादिक, मुझसे भिन्न है मैं भी परमार्थ से इनसे भिन्न हूं न मैं इनका कुछ हूं न मेरे ही ये कुछ हैं'' इत्यादिक श्रुतज्ञान की भावना से मुमुक्षु को भावना करनी चाहिये। कहा भी है

निर्वृत्तिं भावयेद्यावन्निर्वृत्तिं तदभावतः।

न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम्।।

जबतक मुक्ति नहीं हुई तब तक परद्रव्यों से हटनेकी भावना करे जब उसका अभाव हो जायगा तब न प्रवृत्ति रहेगी और न निवृत्ति ही रहेगी बस वही अविनाशी पद जानो।

मोही बांधत कर्मको निर्मोही छुट जाय।

यातें गाढ़ प्रयत्न से निर्ममता उपजाय।।

यहां पर शिष्य कहता है कि वह निर्ममता कैसे होवे ? इसमें निर्ममता के चिंतवन करने के उपायों का सवाल किया गया है। अब आचार्य, उसकी प्रक्रिया को ``एकोऽहं निर्ममः'' शुद्धःसे प्रारंभ कर ``मम विज्ञस्य का स्पृहा'' तक ४ श्लोकों द्वारा बतलाते हैं :-

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।

बाह्याः संयोगजाः भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।।२७।।

अन्वय - अहं एकः निर्ममः शुद्धः ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः संयोगजाः सर्वेऽपि भावा मत्तः सर्वथा बाह्याः।

अर्थ - मैं एक, ममतारहित, शुद्ध, ज्ञानी योगीन्द्रों के द्वारा जानने लायक हूं। संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं वे मुझसे सर्वथा बाहिरी भिन्न हैं।

विसदार्थ - मैं द्रव्यार्थिकनय से एक हूं, पूर्वापर पर्यायों में अन्वित हूं। निर्मम हूं-``मेरा यह'' ``मैं इसका'' ऐसे अभिनिवेश से रहित हूं। शुद्ध हूं, शुद्धनय की अपेक्षा से, द्रव्यकर्म भावकर्म से रहित हूं। ज्ञानी हूं, स्वपर प्रकाशन करने का स्वभाववाला हूं। योगीन्द्रगोचर हूं, केवलियों के द्वारा तो अनन्त पर्याय सहित रूप से और श्रुतकेवलियों के द्वारा शुद्धोपयोगमात्ररुपसे जानने में आसकने लायक हूं ऐसा मैं आत्मा हूं और जो संयोग से-द्रव्यकर्मों के संबंध से-प्राप्त हुए देहादिक पर्यायें हैं वे सभी मुझसे हरतरह से द्रव्यसे गुणसे पर्यायसे) बिल्कुल जुदे हैं।

मैं इक निर्मम शुद्ध हूं ज्ञानी योगी गम्य।
कर्मोदय से भाव सब मो ते पूर्ण अगम्य।।

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिक के संबन्ध से प्राणियों को क्या होता है ? क्या फल मिलता है ? उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है कि-

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः।।२८।।

अन्वय - इह संयोगात् देहिनां दुःखसंदोहभागित्वं ततः एनं सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः त्यजामि।

अर्थ - इस संसार में देहादिक के संवन्ध से प्राणियों को दुःखसमुह भोगना पडता है अनन्त क्लेश भोगना पड़ते है, इस लिये इस समस्त संबंध को, जो कि मन बचन काय की क्रिया से हुवा करता है, मन से बचन से काय से छोड़ता हूं। अभिप्राय यह है कि मन बचन काय को आलम्बन लेकर चंचल होने वाले आत्मा के प्रदेशों को भावों से रोकता हूं। ``आत्मा, मन बचन काय से भिन्न है'' इस प्रकार के अभ्यास से सुख रूप एक फल वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और मन, बचन, काय, से आत्मा अभिन्न है इस प्रकार के अभ्यास से दुःख रूप एक फलवाले संसार की प्राप्ति होती है, जैसा कि कहा गया है-

स्वबुद्ध्यायावद्गृहणीयात्कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासेन निवृत्तिः।।

जबतक शरीर वाणी, और मन इन तीनों को ये `स्व हैं-अपने हैं' इस रूप में गृहण करता रहता है तबतक संसार होता है और ज़ब, इनमें भेदबुद्धि करने का अभ्यास होज़ाता है तब मुक्ति होजाती है।

प्राणी जा संयोगतें, दुःख समूह लहात।
वातें मन वच काय युत, हूं तो सर्व तजात।।

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि पुद्गल शरीरादिक रूपी मूर्त द्रव्य के साथ, जैसा कि आगम में सुना जाता है, जीव का संबंध है। उस संबंध के कारण ही जीव का मरण व रोगादिक होते हैं तथा मरणादि संबंधी बाधायें भी होती हैं तब इन्हें कैसे व किन भावना से हटाया जावे ? वह भावना करनेवाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि-

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।।२९।।

अन्वय - मे मृत्युर्न कुतः भीतिः मे व्यार्धिन व्यथा कुतः अहं न बालः नाहं वृद्धः न युवा एतानि पुद्गले।

अर्थ - मेरी मृत्यु नहीं तब डर किसका ? मुझे व्याधि नहीं तब पीड़ा कैसे ? न मैं बालक हूं, न बूढ़ा हूं न जवान हूं, ये सब (दशाएं) पुद्गल में ही पाई जाती हैं।

विशदार्थ - ``एकोहं निर्ममः शुद्धः इत्यादि रूप से जिसका स्वस्वरूप निश्चित होगया है ऐसा जो मैं हूं उसका प्राणत्याग रूप मरण नही होसकता कारण कि चिन्तशक्ति रूप भाव प्राणों का कभी भी विछोह नहीं होसकता। जब कि मेरा मरण नहीं तब मरण के कारणभूत काले नाग आदिकों से मुझे भय क्यों ? अर्थात् मैं किसी से भी नहीं डरता हूं। इसी प्रकार वात पित्त कफ आदि की विषमता को व्याधि कहते है और वह मुझे है नहीं कारण कि वात आदिक मूर्त, पदार्थ से ही सम्बंध रखनेवाले हैं जब ऐसा है तब ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा-तकलीफ कैसी ? उसीतरह मैं बाल-वृद्ध आदि अवस्था वाला भी नहीं हूं तब बाल वृद्ध आदि अवस्थाओं से पैदा होनेवाले दुःखों-क्लेशों से मैं कैसे दुखी हो सकता हूं। अच्छा, यदि मृत्यु वगैरह आत्मा में नहीं होते तो किसमें होते हैं ? इसका जवाब यह है कि `एतानि पुद्गले' ये मृत्यु-व्याधि और बाल आदि दशाएं, पुद्गल-मूर्त शरीर आदिकों में ही हो सकती हैं कारण किये सब मूर्तिमान पदार्थ के धर्म हैं मैं तो अमूर्त हूं मुझ में वे हरगिज नहीं होसकतीं।

मरण रोग मो में नहीं तातें सदा निःशंक।
बाल तरुण नहिं वृद्ध हूं, ये सब पुद्गल अंक।।

फिर भी भावना करने वाला खुद शंका करता है कि यदि कही हुई नीति के अनुसार मुझे भय आदि न होवे न सही परन्तु जो जन्म से लगाकर अपनाई गई थी और हालांकि जिन्हें मैंने भेद भावना के बल से छोड़ दिया है ऐसी देहादिक वस्तुएं, चिर काल के अभ्यस्त-अभेद संस्कार के वश से पश्चात्ताप करने वाली होसकती है कि ``अपनी इन चीजों को मैंने क्यों छोड़ दिया ? भावक-भावना करनेवाला स्वंय ही प्रतिबोध को सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं होसकता कारण कि-

भुक्तोन्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा।।३०।।

अन्वय - मोहात् सर्वेऽपि पुद्गलाः मया मुर्हुमुक्तोन्झिताः उच्छिष्टेष्विव तेषु अद्य विज्ञस्य मम का स्पृहा।

अर्थ - मोह से मैंने समस्त ही पुद्गलों को बार २ भोगा और छोड़ा-भोग २ कर छोड़ दिया-अब जूठन के मानिन्द्र उन पदार्थों में मेरी क्या चाहना होसक्ती है ? अर्थात् उन भोगों के प्रति मेरी चाहना नहीं हो सकती।

विशदार्थ - अविद्या के आवेश के वश से अनादिकाल से ही मुझ संसारी जीव ने कर्म आदि के रूप में समस्त पुद्गलों को बार बार पहिले भोगा और पीछा उन्हें नीरस (कर्मत्वादिरहित) कर २ के छोड़ दिया जब ऐसा है तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जूंठे उच्छिष्ट भोजन, गंध, मालादिकों में जैसे लोगों को फिर भोगने की स्पृहा नहीं होती उसी तरह इस समय तत्वज्ञान से विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे पुद्गलों में क्या अभिलाषा हो सकती है ? नहीं, नहीं हरगिज नहीं। भैय्या ! जब कि तुम मोक्षार्थी हो तब तुम्हें निर्ममत्व की ही भावना करनी चाहिये।

सब पुद्गल को मोह से भोग भोग कर त्याग
मैं ज्ञानी करता नहीं उन उच्छिष्ट में राग।।

यहां पर शिष्य कहता है कि वे पुद्गल, क्यों बंध जाते हैं अर्थात् जीव के द्वारा पुद्गल क्यों और किस प्रकार से हमेशा बंध को प्राप्त होते रहते हैं ?

आचार्य उत्तरदेते हुए कहते है :-

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति।।३१।।

अन्वय - कर्म, कर्महिताबंधि, जीवः, जीवहितस्पृहः स्वभाव प्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति।

अर्थ - कर्म, कर्म का हित चाहते हैं। जीव, जीव का हित चाहता है। सो ठीक ही है अपने २ प्रभाव के बढ़ने पर कौन अपने स्वार्थ को नहीं चाहता।

``कत्थवि वलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ हूंति बलियाई।
जीवस्सय कम्भस्स य पुव्वविरुद्धाइ वइराइ''।।

विशदार्थ - कभी जीव बलवान् होता तो कभी कर्म बलवान हो जाते हैं इस तरह जीव और कर्मो में पहिले से (अनादि से) ही वैर चला आरहा है। ऐसा कहने से मतलब यह निकला कि पूर्वोपार्जित बलवान द्रव्यकर्म, अपना यानी द्रव्यकर्म का हित करता है अर्थात् द्रव्यकर्म, जीव में औदयिक आदि भावों को पैदा कर नये २ द्रव्य कर्मों को ग्रहणकर अपनी संतान को पुष्ट किया करता है जैसा कि कहा गया है :-

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरभ्ये।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गगलाः कर्मभावेन।।
परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि।।

जीव के द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्त मात्र हैं- प्राप्त करके जीव से विभिन्न पुद्गल, खुद बखुद कर्मरूप परिणाम जाते हैं और अपने चेतनात्मक परिणामों से स्वयं ही परिणामने वाले जीव के लिये वह पौद्गलिक कर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है। तथा कालादि लब्धि से बलवान हुवा जीव, अपेने हित को-अनन्त सुख का कारण होने से उपकार करने वाले-स्वात्मोपब्धि रूप मोक्ष को चाहता है यहां पर एक अहांना कहा जाता है कि ``अपने २ माहात्म्य के प्रभाव के बढ़ने पर स्वार्थ को-अपनी२ उपकारक वस्तु को-कौन नहीं चाहता ? सभी चाहते हैं :-

कर्म, कर्म हितकार है जीव, जीव हितकार।
निज प्रभाव बल देखकर को न स्वार्थ करतार।।

इसलिये समझो कि कर्मो से बंधा हुवा प्राणी कर्मों का संचय किया करता है। जबकि एसा है तव :-

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्।।३२।।

अन्वय - परोपकृतं उत्सृज्य स्वोपकारपरो भव दृश्यमानस्य-परस्य उपकुर्घन अज्ञः लोकवत्।

अर्थ - पर के उपकार करने को छोड़कर अपने उपकार करने में तत्पर हो जावो।

इंद्रियो के द्वारा दिखाईं देते हुए शरीरादिकों का उपकार करते हुए तुम अज्ञ (वास्तविक वस्तु स्थितिको न जानने वाले) हो रहे हो तुम्हें चाहिये कि दुनियां की तरह तुम भी अपनी भलाईं करने में लगो।

विशदार्थ - पर कहिये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका जो अविद्या-अज्ञान अथवा मोह के वश से जो उपकार किया जाता रहा है अथवा किया जा रहा है उसे विद्या सम्यग्ज्ञान अथवा वीतरागता के अभ्यास से छोड़कर प्रधानता से अपने (आत्माके) उप कार करने में तत्पर हो जावो। तुम सर्वथा अपने (आत्मा) से बाह्म इन्द्रियों के द्वारा अनुभव में आने वाले इन शरीरादिकों की रक्षा करना आदि रूप उपकार करने में लगे हुए हो इसलिये मालूम पड़ता है कि तुम अज्ञ (वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप से अजान) हो सो जैसे दुनिया के लोग, जब तक दूसरे को दूसरे रूपमें नहीं जानने तब तक उनका उपकार करते हैं, परन्तु ज्यों ही वे अपने को अपना और दूसरे को दूसरा जानते हैं उनका (दूसरों का) उपकार करना छोड़कर अपने उपकार के करने में लग जाते हैं इसी प्रकार तुम भी तत्वज्ञानी बन कर अपने को स्वाधीन शुद्ध बनाने रूप आत्मोपकार करने में तत्पर हो जाओ :

प्रगट अन्य देहादिका मूढ़ करत उपकार।
सज्जन वत् या भूल को तजकर निज उपकार।।

यहां पर शिष्य कहता है कि किस उपाय से अपने और पर में विशेषता (भेद) जानी जाती है और उसके जानने वाले को क्या होगा, किस फलकी प्राप्ति होगी, आचार्य कहते हैः-

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरम्।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरम्।।३३।।

अन्वय - यः गुरुपदेशात् अभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरं जानाति स मोक्षसौख्यं निरन्तरम् जानाति।

अर्थ - जो गुरु के उपदेश से अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्वसंवेदन) से, अपने और परके अंतर को, (भेद को) जानता है वह मोक्षसंबंधी सुख का अनुभवन करता रहता है।

विशदार्थ - गुरु कहिये धर्माचार्य अथवा गुरु कहिये स्वयं आत्मा, उसके उपदेश से-सुदृढ़ स्वपरविवेक ज्ञानके पैदा करने वाले वाक्यों से अर्थात् वाक्यों के अनुसार अभ्यास करना चाहिये। बार बार अभ्यास करने से संवित्ति-अपने लक्ष्य-का अनुभव होने लगता है। उस

संवित्ति (स्वसंवेदन) के द्वारा जो स्वात्मा को पर से भिन्न जानता देखता है ऐसा वह परसे भिन्न आत्मा का अनुभवन करनेवाला मोक्षसुख को निरन्तर-हमेशा, विच्छेद रहित-अनुभव करने लग जाता है क्योंकि वह मोक्षसुख का अनुभव, कर्मोसे भिन्न आत्माका अनुभवन करनेवालों को होता है अन्यों को नहीं। जैसा कि तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ में कहा है :-

तमेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यपरमृच्छति।

तथात्माधीनमानंदमतिवाचामगोचरम्।।

उस आत्मा का अनुभवन करते हुए यह आत्मा, उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है और इसी तरह मन, तथा वाणी के अगोचर अथवा लम्बे चौड़े वचनों से भी न कहे जा सकने वाले स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

गुरु उपदेश अभ्यास से निज अनुभव से भेद।

निजपर को जो अनुभवे लहै स्वसुग्व़ वेखेद।।

आगे शिष्य पूंछता है कि मोक्षसुख के अनुभव के विषय में कौन गुरु होता है, आचार्य कहते हैं :-

स्वस्मिन् सद (दा) भिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।

स्वयं हित(तं)प्रयोक्तृत्वादात्मैंव गुरुरात्मनः।।३४।।

अन्वय - स्वयं स्वस्मिन् सदभिलाषित्वात् अभीष्टज्ञापकत्वतः हितप्रयोक्तृत्वात् आत्भनः आत्मा एव गुरुः अस्ति।

अर्थ - जो सत् का-कल्याण का वांछुक होता है, चाहे हुएहित के उपायोंको जतलाता है तथा हित का प्रवर्तक होता है। वह गुरु कहलाताहै। जब आत्मा, स्वयंही अपने में सत्की-कल्याण की यानी मोक्षसुखकी अभिलाषा करता है अपने द्वारा चाहे हुए मोक्षसुख के उपायों को जतलाने वाला है तथा मोक्षसुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन कराने वाला है, इसलिये अपना (आत्मा का) गुरु आप (आत्मा) ही है।

विशदार्थ - यह आत्मा स्वयं ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है तब सत् की यानी मोक्ष सुख की हमेशा अभिलाषा करता रहता है कि मुझे मोक्ष सुख, प्राप्त हो जावे। इसी तरह जब स्वयं आत्मा, मोक्ष सुख के उपायों कों जानना चाहता है तब यह स्वयं मोक्ष के सुख के उपायों को जतलाने वाला बन जाता है कि यह मोक्ष सुख के उपाय मुझे

करना चाहिये इसी तरह अपने आपको मोक्ष उपाय में लगानेवाला भी वह स्वयं होजाता है कि इस सुदुर्लभ मोक्ष सुखोपाय में, हे दुरात्मन् आत्मा ! तुम आज तक अर्थात् अभीतक भी प्रवृत नहीं हुए इस प्रकार अभी तक न प्रवर्तने वाले आत्मा का प्रवर्तक भीहुवा करता है। इसलिये स्वयं ही आत्मा अपने कल्याण का चाहनेवाला, अपने को सुखोपाय बतलानेवाला और सुखोपाय में प्रवृत्ति करानेवाला होने से, अपना गुरु है।

आपहिं निजहित चाहता, आपहि ज्ञाता होय।
आपहिं निज हित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय।।

यहांपर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरों की क्यों सेवा, करनी होगी बस जब आपस में खुद का खुद ही गुरु बन गया तब धर्माचार्यादिकों की सेवा मुमुक्षुवों को नहीं करनी होगी ऐसा भी नही कहना चाहिये कि हां ऐसा तो है ही कारण कि वैसा मानने से अपसिद्धांत हो जायगा ऐसा बोलने वाले शिष्य के प्रति आचार्य जबाब देते हैं-

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञोनाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायत्।।३५।।

अन्वय - अज्ञः विज्ञत्बं न आयाति विज्ञः अज्ञत्वं न ऋृच्छति गतेर्धर्मास्तिकायवत् अन्यस्तु निमित्तमात्रम्।

अर्थ - तत्वज्ञान की उत्पत्ति के अयोग्य अभव्य आदिक जीव, तत्वज्ञान को धर्माचार्यादिकों के हजारों उपदेशों से भी नहीं प्राप्त कर सकता है जैसा कि कहा गया है-

स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रिया गुणमपेक्षते।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः।।

कोई भी प्रयत्न, कार्य की उत्पत्ति करने के लिये स्वाभाविक गुण की अपेक्षा किया करता है। सैकडों व्यापारों से भी बगुला तोते की तरह नहीं पढ़ाया जा सकता।

इसी तरह तत्वज्ञानी जीव, तत्वज्ञान से छुटकर हजारों उपायों के द्वारा भी अज्ञत्व को प्राप्त नहीं कर सकता जैसा कि कहा गया हैः-

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके।
मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलंति योगात्।।

बोधप्रदीपहतमोहमहांधकाराः
सम्यग्दृशः किमुतशेषपरीषहेषु।।

जिसके कारण भय से घवड़ाई हुई सारी दुनियां मार्ग को छोडकर इधर उधर भटकने लगजाय ऐसे वज्र के गिरने पर भी अतुलशांतिसंपन्न योगीगण योग से (ध्यान से) चलायमान नहीं होते तव ज्ञान रूपी प्रदीप से जिन्होने मोहरूपी महान अन्धकार को नष्ट कर दिया ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव क्या शेष परिषहों के पर चलायमान होजायगें ? नहीं, वे कभीभी चलायमान नहीं होसकते।

यहां शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जायगा। इसके विषय में जबाव यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक हैं, वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में तथा विध्वंसन में सिर्फ निमित्त मात्र है वास्तव में किसी कार्य के होने व बिगडने में उसकी योग्यता ही साक्षात साधक होती है जैसे एक साथ गति रूप परिणाम के लिये उन्मुख हुए पदार्थों में गति की साक्षात पैदा करने वाली उन पदार्थों की ही गमन क़रने की शक्ति है क्यों कि यदि पदार्थों में गमन करने की शक्ति न होवे तो उनमें किसी के द्वारा भी गति नहीं की जा सकती, धर्मास्तिकाय तो गति करने में सहायक रूप द्रव्य विशेष है इसलिये वह गति के लिये सहकारी कारण मात्र हुआ करती है यही बात प्रकृत में भी जाननी चाहिये इसलिये व्यवहार से ही गुरु आदिकों की सेवा शुश्रूषा आदि की जानी चाहिये।

मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।
निमित्त मात्र पर जान जिस गती धर्म तें होय।।

अब शिष्य कहता है कि ``अभ्यास कैसे किया जाता है'' इसमें अभ्यास करने के उपायों को पूँछा गया है सो अभ्यास और उसके उपायों को कहते हैं बार २ प्रवृत्ति करने को अभ्यास कहते हैं यह बात तो भली भांति प्रसिद्ध ही है उसके लिये स्थान कैसा होना, कैसे नियमादि रखने चाहिये, इत्यादि रूप से उसका उपदेश किया जाता है। इसी प्रकार साथ में संवित्ति का भी वर्णन करते है।

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः।।३६।।

अन्वय - अभवच्चित्तविक्षेपः तवत्संस्थितः योगी निजात्मनः तत्त्वं एकांते अभियोगेन अभ्यस्येत्।

अर्थ - जिसके चिंत्त में क्षोभ नहीं है, जो आत्म स्वरूप रुपमें स्थित है ऐसा योगी सावधानी पूर्वक एकान्त स्थान में अपने आत्मा के स्वरूप का अभ्यास करे।

विशदार्थ - नहीं हो रहे हैं चित्त में विक्षेप-रागादि विकल्प जिसको ऐसा तथा हेय-उपादेय तत्वों में गुरु के उपदेश से जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है, अथवा परमार्थ रुप से साध्यभूत वस्तु में भली प्रकार से यानी जैसे कहेगये वैसे कायोत्सर्गादिकों से व्यवस्थित हो गया है, ऐसा योगी अपनी आत्मा के ठीक २ स्वरूप का एकान्त स्थान में योगी के लिये योग्य ऐसे शून्य गृहों में पर्वतों की गुहा कंदरादिकों में, आलस्य निद्रा आदि को दूर करते हुए अभ्यास करे।

क्षोभ रहित एकान्त में तत्वज्ञान चितधाय।
सावधान हो संयमी निज स्वरूप को भाय।।

यहां पर शिष्य पूँछता है, कि भगवन् ! जिसका लक्षण कहा गया है ऐसी ``संवित्ति होरही है'' यहबात योगी को किसतरीके से मालूम हो सकती है और उसकी हरएक क्षण में उन्नति हो रही है यह भी कैसे जाना जा सकता है। आचार्य कहते हैं कि हे धीमान् सुनो मैं उसके चिन्ह का वर्ण करता हूँ :-

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।।३७।।

अन्वय - यथा यथा संवित्तौ उत्तमं तत्त्वं समायाति तथा-तथा सुलभाः अपि विषयाः न रोचन्ते।

अर्थ - ज्यों २-संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्व रुप आत्मा का अनुभवन होता है, त्यों २ उस योगी को आसानी से प्राप्त होने वाले भी विषय अच्छे नहीं लगते।

विशदार्थ - जिस जिस प्रकार से योगी की संवित्ति में (स्वानुभव रुप संवेदन में) शुद्ध आत्मा का स्वरूप झलकता जाता है, सन्मुख आता हैं, तैसे-तैसे बिना तकलीफ के, सहज में ही प्राप्त होनेवाले रमणीक इन्द्रिय विषय भी योग्य बुद्धि को पैदा नहीं कर पाते हैं। ठीक ही है, दुनियाँ में भी देखा गया है कि महान सुख की प्राप्ति हो जाने पर, अल्प सुख के पैंदा करने वालों कारणों के प्रति कोई आदर या ग्राह्य भाव नहीं रहता है। ऐसा

ही अन्यत्र भी कहा है :-

शमसुखशीलित मनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।

स्थलमपि दहति झषाणां किमंग पुनरंगमंगाराः।।

जिनका मन-शांति-शुख से संपन्न है ऐसे महा-पुरुषों को भोजन से भी द्वेष हो जाता है, अर्थात् उन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता, फिर और विषय भोंगों की तो क्या चलाई, अर्थात् जिन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता उन्हें अन्य विषय भोग क्यों कर अच्छे लग सकते हैं ? अर्थात उन्हें अन्य विषय भोग रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकते। हे वत्स, देखो ! जब मछली के अंगों को जमीन भी जला देने में समर्थ है, तब अग्नि के अंगारों की तो कहना ही क्या ? वे तो जला ही देंगे। इसलिये विषयों की अरुचि ही योगी की स्वात्म-संवित्ति को प्रकट कर देने वाली है।

स्वात्म-संवित्ति के अभाव होने पर विषयों से अरुचि नहीं होती और विषयों के प्रति अरुचि बढ़ने पर स्वात्म-संवित्ति भी बढ़ जाती है।

दोहा :- जस जस आतम तत्वमें, अनुभव आता जाय।

तस तस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।।

उपरिलिखित भावको और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं।

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।

तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।३८।।

अन्वय - यथा यथा सुलभाः अपि विषयाः न रोचन्ते तथा तथा उत्तमं तत्त्वं संवित्तौ समायाति।

अर्थ - ज्यों ज्यों सहज में ही प्राप्त होने वाले इन्द्रिय विषय भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं। त्यों त्यों स्वात्म-संवेदन में उत्तम आत्मतत्व का अनुभव वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।

विशदार्थ - विषय भोगों के प्रति अरुचि भाव ज्यों २ वृद्धि को प्राप्त होते हैं त्यों २ योगी के स्वात्म संवेदन में निजात्मानुभवन की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। कहा भी है -

विरम किमपरेणाऽकार्यकोलाहलेन।
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं।
हृदय सरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः।।

आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं,हे वत्स ! ठहर, व्यर्थ के ही अन्य कोलाहलों से क्या ? निश्चिन्त हो छह मास तक, एकान्त में अपने आप का अवलोकन तो कर, देख, हृदय रूपी सरोवर में, पुद्गल से भिन्न तेजवाली आत्मा की उपलब्धि (प्राप्त) होती है, या अनुपलब्धि (अप्राप्ति)।

-जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।
तस तस आतम तत्व में, अनुभव बढ़ता जाय।।

हे वत्स ! स्वात्म संवित्ति के बढ़ने पर क्या २ वातें होती हैं, किस रूप परिणति होने लगती है आदि बातों को सुन-

निशामयति निश्शेषमिंद्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते।।३९।।

अन्वय - योगी निश्शेषं जगत् इन्द्रजालोपमं निशामयति, आत्मलाभाय स्पृहयति अन्यत्र गत्वा अनुतप्यते।

अर्थ - योगी समस्त संसार को इन्द्रजाल के समान समझता है, आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये अभिलाषा करता है। तथा यदि किसी अन्य बिषय में उलझ जाता या लग जाता है तो पश्चात्ताप करता है।

विशदार्थ - श्लोक नं.४२ में कहे गये ``योगी योगपरायणः'' शब्द को अंत्यदीपक होनेसे सभी निशामयति स्पृहयति आदि क्रियापदों के साथ लगाना चाहिये। स्वात्म संवेदन करने में जिसे आनन्द आयाकरता है ऐसा योगी, इस चर अचर स्थावर जंगमरूप समस्त बाहिरी वस्तु समूह को त्याग और गृहणविषयक बुद्धि का अविषय होने से अवश्य उपेक्षणीय रूप इन्द्रजालिया के द्वारा दिखलाये हुए सर्पहार आदि पदार्थों के समूह के समान देखता है। तथा चिदानन्द स्वरूप आत्मा के अनुभव की इच्छा करता है, और अपनी आत्मा को छोड कर अन्य किसी भी वस्तु में पहिले संस्कार आदि कारणों से यदि मन से वचनसे वा

काय से प्रवृत्ति कर बैटता है, तो वहां से हटकर खुद ही अफसोस करता है, कि ओह ! यह मैंने कैसे आत्मा का अहित कर डाला।

इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात।
अन्य विषय में जात यदि, तो मनमें पछतात।।

आत्मनुभवी के और भी चिन्हों को दिखाते हैं :-

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्।।४०।।

अन्वय - (योगी) निर्जनं जनितादरः एकान्तवासं इच्छति निजकार्यवशात् किचिदुक्त्वा द्रुंत विस्मरति।

अर्थ - निर्जनता को चाहने वाला योगी एकान्तवास की इच्छा करता है और निज कार्य के वश से कुछ कह कर भी उसे जल्दी ही भुला देता है।

विशदार्थ - लोगों के मनरंजन करने वाले चमत्कारी मंत्र तंत्र आदि के प्रयोग करने की वार्ताएं न हुवा करें इसके लिये अर्थात् अपने मतलब से लाभ-आलाभ आदिक के प्रश्न पूंछने के लिये आनेवाले लोगों को मना करने के लिये किया है प्रयत्न जिस ने ऐसा योगी स्वभाव से ही जनशून्य ऐसे पहाड़ों की गुहा कंदरा आदिकों में गुरुओं के साथ रहना चाहता है। ध्यान करनेसे लोक चमत्कारकारी बहुत से विश्वास व अतिशय होजाया करते हैं जैसा कि कहा गया है :-

``गुरूपदेशमासाद्य समभ्यस्वन्ननारतम्।
धारणासौष्ठवाद्ध्यानप्रत्ययानपि पश्यति''।।

गुरु से उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहने वाला, धारणाओंमें श्रेष्ठता प्राप्त होजाने से ध्यानके अतिशयों को भी देखने लग जाता है। अपने शरीर के लिये अवश्य करने योग्य जो भोजनादिक उसके वश से कुछ थोड़ासा श्रावकादिकों से ``अहो, देखो, इसप्रकार एसा करना अहों और एसा यह इत्यादि'' कहकर उसी क्षण भूल जाता है। भगवान् क्या कह रहे हैं ! ऐसा श्रावकादिकों के द्वारा पूंछे जाने पर योगी कुछ भी जवाब नहीं देता । तथा -

ब्रुवन्नपि हि न ब्रुते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति।।४१।।

अन्वय - स्थिरीकृतात्मतत्वस्तु ब्रुवन् अपि न ब्रूते गच्छन् अपि न गच्छति पश्यन् अपि न पश्यति।

अर्थ - जिसने आत्म स्वरूप के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली हैं ऐसा योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता है।

विशदार्थ - जिसने अपने को दृढ़ प्रतीति का विषय बना लिया है ऐसा योगी संस्कारों के वश से या दूसरों के लिहाज से धर्मादिक का व्याख्यान करते हुए भी नहीं बोल रहा है समझना चाहिये क्यों कि उसके बोलने की ओर झुकाव या ख्याल नहीं होता जैसा कि कहा है :-

``आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः।।''

आत्मज्ञान के सिवा दूसरे कार्य को अपने प्रयोग में चिरकालतक ज्यादा देर तक न रहने दे। किसी प्रयोजन के वश यदि कुछ करना पडे तो उसे अतत्पर होकर-अनासक्त होकर वाणी व शरीर के द्वारा करे। इसी प्रकार भोजन के लिये जाते हुए भी नहीं जा रहा है तथा सिद्ध प्रतिमादिकों को देखते हुए भी नहीं देख रहा है यही समझना चाहिये। फिर :-

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः।।४२।।

अन्वय - योगपरायणः योगी किम् इदं, कीदृशं, कस्य कस्मात् क्व इति अविशेषयन स्वदेहं अपि न अवैति।

अर्थ - ध्यान में लगा हुवा योगी यह क्या है ? कैसा है ? किसका है ? क्यों हैं ! कहां है इत्यादिक विकल्पों को न करते हुए अपने शरीर को भी नहीं जानता।

विशदार्य - यह अनुभव में आरहा अंतस्तत्व, किस स्वरूप वाला है ? किसके सदृश है ? इसका स्वामी कौन है ? किससे होता है ? कहां पर रहता हैं ? इत्यादिक विकल्पों को न करता हुवा किन्तु समरसीभाव को प्राप्तहुवा योगी अपने शरीर तक का भी ख्याल

नहीं रखता उसकी चिंता व परवाह नहीं करता, तब हितकारी या अहितकारी शरीर से भिन्न वस्तुओं की चिंता करने की बात ही क्या ? जैंसा कि कहा है-

तदा च परमैकाग्न्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।

अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः।।

उस समय आत्मा में, आत्मा को ही देखने वाले योगी को बाहिरी पदार्थों के रहते हुए भी परम एकाग्रता होने के कारण अन्य कुछ नहीं मालूम पड़ता है।

क्या कैसा किसका किससे कहां ये आतमराम,

तज विकल्प निज देह का योगी निज विश्राम।।

यहां पर शिष्य कहता हैं कि भगवन् ! मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न दशा का होजाना केसे संभव है।

आचार्य कहते हैं, धीमन् ! सुनो समझो :-

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम्

यो यत्र रमते तस्मांदन्यत्र स न गच्छति।।४३।।

अन्वय - यो यत्र निवसन् आस्ते स तत्र रतिं कुरुते यो यत्र रमते स तस्मान्न गच्छति।

अर्थ - जो जहां निवास करने लग जाता है वह वहां रमने लग जाता है और जो ज़हां रमने लग जाता है वह वहां से फिर हटता नहीं है।

विशदार्थ - जो मनुष्य, जिस नगरादिक में-स्वार्थ की सिद्धि का कारण होने से वन्धुजनों के आग्रह से निवासी बन रहने लग जाता है वह उसमें अन्य तरफ से चित्त हटा कर आनन्द का अनुभवन करने लगजाता है और जो ज़हां आनंद का अनुभव करता रहता है वह वहां से दूसरी जगह नहीं जाता यह सभी जानते हैं। इसलिये समझो कि आत्मा में अध्यात्म में रहने वाले योगी अननुभूत (जिसका पहिले कभी अनुभव नहीं हुवा) और अपूर्व आनन्द का अनुभव होते रहने से उसकी अध्यात्मिक सिबाय दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं होती।

दोहा-जो जामें बसता रहे सो तामें रुचि पाय।

जो जामें रम जात है सो तिह तज नहिं जाय।।

ज़ब दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब क्या होता है उसे आगे के श्लोक में आचार्य कहते हैं :-

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयते न विमुच्यते।।४४।।

अन्वय - अगच्छन् तद्विशेषाणं अनभिज्ञश्च जायते अज्ञाततद्विशेषस्तु न बध्यते विमुच्यते।

अर्थ - अध्यात्मसे दूसरी ज़गह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी, शरीरादिक की सुंदरता असुन्दरता आदि धर्मों की ओरविचार नहीं करता और जब उनके विशेषों को नहीं जानता तब वह बंध को प्राप्त नहीं होता किन्तु विशेष रूप से छूट जाता है।

विशदार्थ - स्वात्मतत्व में स्थिर हुवा योगी जब अध्यात्म से भिन्न दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब उस स्वात्मा से भिन्न शरीरादि के सौंदर्य असौंदर्य आदि विशेषों से अनभिज्ञ हो जाता है और जब उनकी विशेषताओं पर ख्याल नहीं देता तब उन में राग द्वेष पैंदा न होने के कारण कर्मों से बंधता नहीं है किन्तु ब्रतादिक का आचरण करने वालों की अपेक्षा भी ज्यादा कर्मों से छूटता है।

वस्तु विशेष विकल्प को नहि करता मतिमान।
स्वात्मनिष्ठता से छुटत नहीं बंधता गुणवान।।

और भी कहते हैं :-

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।।४५।।

अन्वय - परः परः ततो दुःखं, आत्मा आत्मा एव ततः सुखं अत एव महात्मानः तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।

अर्थ - दूसरा दूसरा ही हैं इसलिये उससे दुःख होता है और आत्मा आत्मा ही है इसलिये उससे सुख होता है इसीलिये महात्माओं ने आत्मा के लिये ही उद्यम किया है।

विशदार्थ - पर देहादिक अर्थ, पर ही है किसी तरह से भी उन्हें आत्मा या आत्मा के नहीं बनाया जा सकता जब कि ऐसा है तब उनसे (आत्मा या आत्मा के मान लेने से) दुःख ही होगा कारण कि दुःख के करणों की प्रवृत्ति उन्हीं के द्वारा हुवा करती हैं। तथा आत्मा, आत्मा ही है वह कभी भी देहादिक रूप नहीं बन सकता जब कि ऐसा है तब उससे सुख ही होगा कारण कि दुख के कारणों की वह अपनाता ही नहीं है इसीलिये तीर्थंकर आदिक बडे २ पुरुषों ने आत्मा के स्वरूप में स्थिर होने के लिये अनेक

प्रकार के तपों के अनुष्ठान करने में निद्रा आलस्यादि रहित अप्रमत्त हो उद्यम किया है।

पर पर तातें दुख हो निज निज ही सुखदाय।

महा पुरुष उद्यम किया निज हितार्थ मनलाय।।

पर द्रव्यों में अनुराग करने से होनेवाले दोष को दिखलाते हैं :-

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनंदति तस्य तत्।

न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुंचति।।४६।।

अन्वय - यः अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं अभिनंदति तस्यजन्तोः तत् चतुर्गतिषु सामीप्यं जातु न मुंचति।

अर्थ - जो हेयोपादेय के स्वरूप को न समझने वाला, शरीरादिक पुद्गल द्रव्य को आप (आत्म) रूप तथा अपने (आत्मा के) मानता है, उस जीव के साथ नरकादिक चार गतियों में वह पुद्गल अपना संबंध नहीं छोड़ता है अर्थात् भव २ में वह पुद्गल द्रव्य जीव के साथ बंधा ही रहता है, उससे पिंड नहीं छूट पाता।

दोहाः- पुद्गल को निज जानकर अज्ञानी रमजाय।

चहुंगति में ता संग को पुद्गल नहीं तजाय।।

आत्मस्वरूप में तत्पर रहनेवाले को क्या होता ?

आचार्य कहते हैं :-

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवहिः स्थितेः।

जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः।।४७।।

अन्वय - आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यहारबहिः स्थितेः योगिनः योगेन कश्चित् परमानन्दो जायते।

अर्थ - देहादिक से हटकर अपने आत्मा में स्थित रहने वाले तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षण व्यवहार से बाहिर (दूर) रहने वाले ध्यानी योगी पुरुष को आत्मध्यान करने से कोई एक बचनों से अगोचर, परम, जो दूसरों को नहीं हो सकता ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है।

दोहाः- ग्रहण त्याग से शून्य जो निज आतम लवलीन।

योगी को हो ध्यान से, परमानन्द नवीन।।

उस आनन्द के कार्य को बतलाते हैं :-

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेंधनमनारतम्।
न चासौ खिद्यते योगी वहिर्दुखेष्वचेतनः।।४८।।

अन्वय - (सः) आनन्दः उद्धं कर्मेंधंन अनारतम् निर्दहति योगी असौ च वहिर्दुःखेषु अचेतनः न खिद्यते।

अर्थ - जैसे अग्नि, इन्धन को जला डालती है उसी तरह वह आत्मा में पैदा हुवा परमानन्द, हमेशा से चले आए प्रचुर कर्मो को अर्थात् कर्म सन्तति को जला डालती है और आनन्द सहित योगी, बाहिरी दुःखों के परीषह उपसर्ग संबंधी क्लेशों के अनुभव से रहित हो जाता है जिससे खेद को (संक्लेश) को प्राप्त नहीं होता।

दोहाः- निजानंद नितदहत है कर्मकाष्ट अधिकाय।
बाह्यदुःख नहिं वेदता, योगी खेद न पाय।।

इसलिये :-

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।४९।।

अन्वय - अविद्याभिदुरं महत् परं ज्ञानमंय ज्योतिः मुमुक्षुभिः तत् प्रष्टव्यं तत् एष्टव्यं तत् दृष्टव्यम्।

अर्थ - अविद्या को दूर करने वाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है।सो मुमुक्षुओं (मोक्षाभिलाषियों) को उसी के विषय में पूँछना चाहये, उसी की वांछा करनी चाहिये और उसे ही अनुभव में लाना चाहिये।

विशदार्थ - वह आनन्द स्वभाव वाली महान्, उत्कृष्ट, विभ्रम को नष्ट करने वाली, स्वार्थ को प्रकाशन करने वाली, अथवा इंद्रादिकों के द्वारा पूज्य ऐसी ज्योति हैं। मोक्ष की ईच्छा रखने वालों को चाहिये कि वे गुरु आदिकों से उसी के विषय में पूछतांछ करें। तथा उसी को चाहें एवं उसी का अनुभव करें।

दोहाः- पूज्य, अविद्या दूर यह ज्योति ज्ञानमय सार।
मोक्षार्थी पूंछो, चहो, अनुभव करो विचार।।

इस प्रकार शिष्य को विस्तार के साथ समझाकर आचार्य अव परम करुणा से उस कहे हुए अर्थ स्वरूप को संक्षेप के साथ शिष्य के मन में वैठालने की इच्छा से कहते

है कि ``हे सुमते-अच्छी बुद्धिवाले ! बहुत कहने से क्या ? हेय-उपादेय तत्वों को संक्षेप में भी बुद्धिमानों के हृदयों में रक्खा जा सकता है उन्हें सार रूप में बतलाया जा सकता है।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।५०।।

अन्वय - जीवः अन्यः, पुद्गलश्च अन्यः इति असौ तत्व संग्रहः यत् अन्यत् किन्चित् उच्यते स तस्यैव विस्तरः अस्तु।

अर्थ - ``जीव जुदा है पुद्गल जुदा हैं'' बस इतना ही तत्व के कथन का सार है इसी में सब कुछ आगया इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसी का ही विस्तार है।

विशदार्थ - ``जीव, शरीरादिक से भिन्न है, शरीरादिक, जीव से भिन्न हैं'' बस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्व का संपूर्ण रूप से ग्रहण (निर्णय) हो जाय और जो कुछ इस तत्व संग्रह के सिवाय भेद प्रभेद आदिक, विस्तार में सुनने की रुचि इच्छा रखनेवाले शिष्यों के लिये आचार्यों ने कहा है वह सब इसी का विस्तार है इसी एक बात ``जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है'' को समझाने के लिये ही कहा गया है। जो विस्तार किया गया है उसको भी हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

जीवं जुदा, पुद्गल जुदा, यही तत्व का सार।
अन्य कछु व्याख्यान जो, याही का बिस्तार।।

आचार्य शास्त्र के अध्ययन करने का साक्षात अथवा परम्परा से होनेवाले फल को बतलाते हैं :-

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः।।५१।।

अन्वय - इति इष्टोपदेशं सम्यक् अधीत्य धीमान् भव्यः स्वमतात् मानापमानसमतां वितन्य मुक्ताग्रहः सजने वने वा निवसन् निरुपमां मुक्तिश्रियं उपयाति।

अर्थ - इस प्रकार ``इष्टोपदेश'' को भली प्रकार पढ़कर-मननकर हित-अहित की परीक्षा

करने में दक्ष-निपुण होता हुवा भव्य, अपने आत्मज्ञान से मान और अपमान में समता का विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह जिसने ऐसा होकर नगर व वन में विधि पूर्वक रहता हुवा उपमा रहित मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

विशदार्थ - इष्ट कहते है सुख को मोक्ष को, और उसके कारणभूत स्वात्मध्यान को। इस इष्ट का उपदेश यथावत् प्रतिपादन किया गया है जिसके द्वारा या जिसमें इसलिये इस ग्रन्थ को कहते है ``इष्टोपदेश''। इसका भली प्रकार व्यवहार और निश्चय से पठन एवं चिन्तन करके हित और अहित की परीक्षा करने में चतुर ऐसा भव्य प्राणी, जिसे अनन्त-ज्ञानादिक प्रगट हो सकते हैं-इस इष्टोपदेश के अध्ययन-चिन्तन करने से उत्पन्न हुए आत्मज्ञान से मान-अपमान में रागद्वेष को न करना रूप समता का प्रसार कर-सजन-ग्रामादिकों में तथा निर्जन-वन में विधि पूर्वक ठहरते हुए-छोड़ दिया हैं बाहिरी पदार्थों ऐसे मैं और मेरेपन का आग्रह अथवा हठाग्रह जिसने ऐसा वीतराग होता हुवा अनुपम तथा अनत ज्ञानादि सम्पत्तिरूप मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा गया है :-

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत् स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात्।।

जिस समय तपस्वी को मोह के उदय से मोह के कारण रागद्वेष पैदा होने लगें उस समय शीघ्र ही अपने में स्थित आत्मा की समता से भावना करे अथवा स्वस्थ आत्मा की भावना करे जिससे क्षण भर में वे रागद्वेष शांत हो जावेंगे।

इष्ट रूप उपदेश को पढ़े सुबुद्धी भव्य,
मान अमान में साम्यता निज मन से कर्तव्य।
आग्रह छोड़ स्वग्राम में वा वन में सुवसेय,
उपमारहित स्वमोक्षश्री निजकर सहजहि लेय।।

आगे इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार पंडित आशाधर जी कहते हैं कि:-

विनयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता।।

अर्थ - विनयचन्द्र नामक मुनि के वाक्यों का सहारा लेकर भव्य प्राणियों के उपकार के लिये मुझ आशाधर पंडित ने यह इष्टोपदेश नामक ग्रन्थ की टीका की है।

उपशम इव मूर्तः सागरेंदु (दोर्मु)
मुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचंद्रः
जगदमृतसगर्भा शास्त्रसंदर्भगर्भाः
शुचिचरितवरिष्ठोर्यस्यधिन्वंतिवाचः

अर्थ - सागरचन्द्र नामक मुनीन्द्र से विनयचंन्द्र हुए जोकि उपशम की (शांति की) मानो मूर्ति ही थे तथा सज्जन पुरुषरूपी चकोरों के लिये चन्द्रमा के समान थे और पवित्र चरित्र वाले जिन मुनि के अमृतमयी तथा जिनमें अनेक शास्त्रों की रचनाएं समाई हुई है ऐसे उनके बचन, जगत को तृप्ति व प्रसन्नता करने वाले हैं।

जयंति जगतीवंद्या श्रीमन्ने मिजिनांह्रयः।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहंति यदाश्रिताः।।

जगद्वंद्य श्रीमान् नेमिनाथ जिन भगवान के चरणकमल, जयवन्त रहें जिनके आश्रय में रहने वाली धूलि भी राजाओं के मस्तक पर जा बैठती हैं।

इस प्रकार श्री पूज्यपाद स्वामी के द्वारा बनाया हुआ ``इष्टोपदेश'' नामका ग्रन्थ समाप्त हुआ।

इष्टोपदेश

की

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	अ	
अज्ञानोपास्तिरज्ञानम्	२३	१९९
अभवच्चित्तविक्षेपः	३६	१९३
अगच्छंस्तद्विशेषाणाम्	४४	२२०
अविद्वान् पुद्गलद्रव्यम्	४६	२२१
अविद्याभिदुरं ज्योतिः	४९	२२२
	आ	
आयुवृद्धिक्षयोत्कर्षं	१५	१८९
आरंभे तापकान्प्राप्तौ	१७	१९१
आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य	४७	२२१
आनन्दो निर्दहत्युद्धम्	४८	२२२
	इ	
इतश्चिंतामणिर्दिव्यः	२०	१९५
इच्छत्येकान्तसंवासम्	४०	२१७
इष्टोंपदेशमितिसम्यगधीत्य धीमान्	५१	२२३
	ए	
एकोऽहं निर्ममः शुद्धो	२७	२०५
	क	
कटस्यकर्ताहमिति	२५	२०२
कर्म कर्महिताबन्धि	३१	२०४
किमिदं कीदृशं कस्य	४२	२१८

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	ग	
गुरुपदेशादभ्यासात्	३३	२१०
	ज	
जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः	५०	२२३
	त	
त्यागाय श्रेयसे वित्तम्	१६	१९०
	द	
दिग्देशेभ्यः खगा एत्य	९	१८२
दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण	१३	१८७
दुःखसंदोहभागित्वम्	२८	२०६
	न	
न मे मृत्युः कुतोभीतिः	२९	२०७
नाज्ञो विज्ञत्वमायाति	३५	२१२
निशामयति निश्शेषम्	३९	२१६
	प	
परीषहाद्यविज्ञानात्	२४	२००
परोपकृतिमुत्सृज्य	३२	२०९
परः परस्ततो दुखम्	४५	२२०
	ब	
बध्यतेमुच्येत जीवः	२६	२०२
ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते	४१	२१४
	भ	
भवंति प्राप्य यत्संगम्	१८	१९३
भुक्तोज्झितामुहुर्मोहात्	३०	२०८
	म	
मोहेन सवृंत ज्ञानम्	७	१८०

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	य	
यस्य स्वयं स्वभावाप्तिः	१	१७३
योग्योपादानयोगेन	२	१७४
यत्रभावः शिवं दत्ते	४	१७६
यज्जीवस्योपकाराय	१९	१९४
यथा यथा समायाति	३७	२१४
यथा यथा न रोचन्ते	३८	२१५
यो यत्र निवसन्नास्ते	४३	२१९
	र	
रागद्वेषद्वयदिर्ध	११	१८४
	व	
वरं व्रतैः पदं दैवम्	३	१७५
वासनामात्र मेवैतत्	६	१७८
वपुर्गृहं धनं दाराः	८	१८२
विराधकः कथं हत्रे	१०	१८३
विपद्भवपदावर्ते	१२	१८६
विपतिमात्मनो मूढः	१४	१८८
	स	
स्वंसवेदनसुव्यक्तः	२१	१९६
संयम्य करणग्रामम	२२	१९७
स्वस्मिन् सदभिलाषित्वाद	३४	२११
	ह	
हृषीकजमनातंकम्	५	१७७

।।श्रीचिदानन्दस्वरूपाय नमः।।

सामायिक-पाठ

भाषानुवाद सहित

सिद्धवस्तुवचो भक्त्या, सिद्धान् प्रणमतः सदा।
सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः, सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम्।।१।।

अन्वय - सिद्धवस्तुवचः सिद्धान् सदा भक्त्या प्रणमतः सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः नः अव्ययां सिद्धिं ददतु।

अर्थ - श्री सिद्ध परमेष्ठी व जगतसिद्ध सभभी पदार्थों के कहने वाले जैन आगम को अथवा आगम के मूल कर्त्ता श्री अर हंत भगवान को भक्ति पूर्वक नमस्कार करके व उनके बताये हुए मार्ग पर चल कर जिन पुरुषों ने संसार-दुःख का नष्ट करना रूप कार्य सिद्ध कर लिया है, ऐसे जीवन मुक्त अरहंत देव व मोक्ष प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी, हमको भी अविनश्वर पद प्राप्त करावें।

भावार्थ - जिन पुरुषो ने श्री अरहंत व सिद्ध परमेष्ठी को अपना आदर्श मानकर व उनके बताये हुए मार्ग का अवलम्बन लेकर अरहंत व सिद्ध पद प्राप्त किया है ऐसे वे महापुरुष हमको भी उसी अविनश्वर पद के मार्ग पर लगावे। इस श्लोक में यह बात भी बता दी गई है कि मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र उपाय श्री अरहंत व सिद्ध परमेष्ठी को आदर्श मानकर उनके बताये हुए मार्ग का अवलम्बन करना ही है।

नमोऽस्तु धौतपापेम्यः सिद्धेभ्यः ऋषिसंसदि।
सामायिकं प्रपद्येऽहं, भवभ्रमणसूदनम्।।२।।

अन्वय - धौतपापेभ्यः नमोस्तु, अहं ॠषिसंसदि स्थितः सन् भवभ्रमणसूदनं सामायिकं प्रपद्ये।

अर्थ - समस्त कर्म-कलंक को नष्ठ कर देने वाले श्री सिद्ध परमेष्ठी को अत्यन्त भक्ति सहित अपने मनो मंदिर में विराजमान करके, महर्षि पुरुषों के रहने योग्य, कोलाहलादि से रहित, पवित्र स्थान में स्थित होकर संसार दुःख को नाश करने वाली तथा परमानन्द पद को प्राप्त कराने वाली सामायिक को मैं प्रारम्भ करता हूं अर्थात् उसका प्ररूपण करता हूं।

साम्यं मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित्।
आशां सर्वां परित्यज्य, समाधिमहमाश्रये।।३।।

अन्वय - मे सर्वभूतेषु साम्यं, मम केनचित् न वैरं, सर्वां आशां परित्यज्य अहं समाधिं आश्रये।

अर्थ - सामायिक करते समय ऐसी भावना करनी चाहिये कि सम्पूर्ण जीव मात्र में मेरा साम्यभाव विद्यमान है, किसी के साथ भी मेरा वैरभाव नहीं है और समस्त आशाओं (सांसारिक इच्छाओं) को त्यागकर मैं निरन्तर आत्मध्यान में तल्लीन होता हूं।

रागद्वेषान्ममत्वाद्वा, हा मया ये विराधिताः।
क्षमंतु जंतवस्ते मे, तेभ्यः क्षमाम्यहं पुनः।।४।।

अन्वय - हा ! मया रागद्वेषात् वा ममत्वात् ये विराधिताः ते जंतवः मे क्षमन्तु, अहं पुनः तेभ्यः क्षमामि।

अर्थ - अनादि काल से अब तक संसार चक्र में भ्रमण करते हुए मैंने राग-द्वेष व मोहवश जिन जीवों का घात किया है उन से मेरी अति विनय पूर्वक परोक्ष प्रार्थना है कि वे मुझे क्षमा करें मुझे स्वयं भी अपनी अनादि काल से अबतक निरन्तर बनी रही हुई अपनी इस दुर्बुद्धि का अत्यन्त खेद है। इसके अतिरिक्त जिन जीवों से मेरे प्रति कुछ अपराध बन गया होगा उनको भी मैं सरल ह्रदय से क्षमा करता हूं।

मनसा वपुषा वाचा, कृतकारितसम्मतैः।
रत्नत्रयभवं दोषं, गर्हे निंदामि वर्जये।।५।।

अन्वय - मनसा वपुषा वाचा कृतकारितसम्मतैः रत्नत्रय भवं दोषं गर्हे निन्दाभि तथा तं वर्जये।

अर्थ - सामायिक में यह भी विचारना चाहिये कि मन-बचन काय से की हुई कृत कारित व अनुमोदना के द्वारा जो मैंने अपने रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र में दोष लगाया है उसकी मैं गर्हणा करता हूं, निंदा करता हूं और उस दोष का परित्याग करता हूं।

तैरश्चं मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना।
कायाहारकषायादीन्, संत्यजामि विशुद्धितः।।६।।

अन्वय - अधुना अहं तैंरश्चं मानवं, दैवं, उपसर्गं सहे, विशुद्धितः कायाहारकषायादीन् संत्यजामि।

अर्थ - तिर्यञ्च, मनुष्य व देवों से किये हुए उपसर्ग को भी शांति पूर्वक सहन करने के लिये मैं इस समय तैयार हूं और शुद्ध मन वचन काय पूर्वक शरीर से ममत्व त्यागता हूं। सामायिक के काल तक आहार शरीर व अन्य परिग्रहों को छोड़ता हूं, तथा क्रोधा दिक कषायों को अपना शत्रु समझ कर यथाशक्ति उन्हें भी त्यागता हूं।

रागं द्वेषं भयं शोकं, प्रहर्षौत्सुक्यदीनताः।
व्युत्स्त्रजामि त्रिधा सर्वमरतिं रतिमेव च।।७।।

अन्वय - अहं त्रिधा रागं द्वेषं भयं शोकं प्रकृष्टौत्सुक्य दीनताः सर्व आरतिं, च रतिम् व्युत्स्त्रजामि।

अर्थ - राग, द्वेष भय, शोक, हर्ष, दीनता, रति आदि सभी दोषों को मैं आत्मघात समझकर मन वचन काय से सामायिक के काल तक त्यागता हूं व हमेशा के लिये इनको त्यागने योग्य शक्ति प्राप्त करना चाहता हूं।

जीवने मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बंधावरौ सुखे दुःखे, सर्वदा समता मम।।८।।

अन्वय - मम सदा जीविने मरणे, लाभे अलाभे, योगे विपर्यये बंधौ अवरौ. सुखे दुःखे समता स्यात्।

अर्थ - मेरा सदा ही जीवन मरण में, लाभ अलाभ में, संयोग वियोग में, शत्रु मित्र

में व सुख दुःख में समता भाव बना रहे ऐसा विचार करना चाहिये व सामायिक में इसी प्रकार का समता भाव रखना चाहिये।

आत्मैव मे सदा ज्ञाने, दर्शने चरणे तथा।
प्रत्याख्याने ममात्मैव, तथा संवरयोगयोः।।९।।

अन्वय - मे ज्ञाने सदा आत्मा एव, तथा दर्शने चरणे, प्रत्याख्याने संवर योगयोः आत्मा एव शरणः।

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, व सम्यक् त्याग में और कर्मों के रोकने व ध्यानादि करने में मेरे एक आत्मा ही शरण है।

भावार्थ - आत्मा की शुद्ध दशा हो जाने पर ये सब गुण प्राप्त हो जाते हैं अथवा ये सब गुण आत्मा की शुद्ध दशा से भिन्न नहीं है इस लिये आत्मा शुद्ध होने पर इनकी प्राप्ति के लिये पृथक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है।

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा बहिर्भवा भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः।।१०।।

अन्वय - ज्ञानदर्शनलक्षणः शाश्वतः मे एकः आत्मा, संयोग लक्षणाः शेषाः सर्वे बहिर्भवाः भावाः।

अर्थ - ज्ञानदर्शनस्वरूप एक नित्य आत्मा ही वास्तव में मेरी निधि है, बाकी कर्मों के संयोग से होने वाले जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि परिणाम हैं या स्त्री पुत्र धन धान्यादिक बाह्य पदार्थ हैं वे सब मुझ से भिन्न हैं उनसे मेरा कोई संबंध नहीं है।

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।
तस्मात्संयोगसंबंधं, त्रिधासर्वंत्यजाम्यहम्।।११।।

अन्वय - जीवेन संयोगमूला दुःखपरम्परा प्राप्ता, तस्मात् अहं त्रिधा सर्वं संयोगसंबंधं त्यजांभि।

अर्थ - ``इस मेरी आत्मा ने अनादि काल से अब तक ज्ञाना वरणादि कर्मों के संयोग से ही संसार में रुलते २ बहुत दुःख पाये हैं इस लिये अब मैं मन बचन काय से कर्म संबंध को ही त्यागता हूं।'' इत्यादिक भावनाओं व बिचारों द्वारा सामायिक करते समय अपने मन को हित अहित का विवेचक बनाना चाहिये।

एवं सामायिकात्सम्यक्, सामायिकमखंडितम्।
वर्तते मुक्तिमानिन्या वशीभूतायते नमः।।१२।।

अन्वय - एवं यस्य सामायिकात् अखंडितं सम्यक् सामायिकं वर्तने तथा मुक्तमानिन्याः वशीभूतायते तस्मै नमः।

अर्थ - इस प्रकार सामायिक पाठ में कही हुई रीति के अनुसार जिस महापुरुष के परम अखंडित सामायिक पाई जाती है तथा जो मुक्ति रूपी स्त्री के वशीभूत हो गये हैं अर्थात् जिनको मुक्ति प्राप्त हो गई है उनको में बारंबार नमस्कार करता हूं।

सामायिक पाठ

की

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	आ	
आत्मैव मे सदा ज्ञाने	९	२३२
	ए	
एको मे शाश्वतश्चात्मा	१०	२३२
एवं सामायिकात्सम्यक्	१२	२३३
	ज	
जीवने मरणे लाभे	८	२३१
	त	
तैरश्चं मानवं दैव	६	२३१
	न	
नमोस्तु धौतपापेभ्यः	२	२३०
	म	
मनसा वपुषा वाचा	५	२३०
	र	
रागद्वेषम्ममत्वाद्वा	४	२३०
रागद्वेषभयं शोकम्	७	२३१
	स	
साम्यं मे सर्वभूतेषु	३	२३०
सिद्धवस्तुवचो भक्त्या	१	२२९
संयोगमूला जीवेन	११	२३२

।।श्रीचिदानन्दस्वरूपाय नमः।।

मृत्यु-महोत्सव

भाषानुवाद सहित

सल्लेखना का स्वरूप और वह कब की जाती है:-

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।१।।

अन्वय - आर्याः निःप्रतीकारे उपसर्गे, दुर्भिक्षें, जरसि रुजायां धर्माय तनुविमोचनं सल्लेखनां आहुंः।

अर्थ - महात्मा पुरुष, जिसका कुछ प्रतीकार या इलाज न किया जासके ऐसे किसी भयंकर सिंह आदि द्वारा खाये जाने आदि के उपसर्ग आजाने पर, जिसमें शुद्ध भोजन सामिग्री न मिल सके ऐसे दुष्काल के पड़ जाने पर, जिसमें धार्मिक व शारीरिक क्रियायें यथोचित रीति से न पल सकें ऐसे बुढ़ापे के आजाने पर, तथा किसी असाध्य रोग के हो जाने पर, धर्म की रक्षा के लिए शरीर के त्याग करने को व यथाशक्ति कषायों के मन्द करने को सल्लेखना या समाधिमरण कहते हैं।

आगे के श्लोकों में बताये हुए कारणों से इस मृत्यु अवस्था को दुःखदायक न समझ कर एक प्रकार का उत्सव या महोत्सव समझना चाहिये, क्योंकि यह समय, आयु पर्यन्त अभ्यास किये हुए ज्ञान,ध्यान, जप, तप आदि शुभ कार्यो की परीक्षा का है। वीर पुरुष बहुत काल तक शस्त्र विद्या का अभ्यास कर युद्ध मे जाते समय जैसे हर्ष मानता है और मरने का भय नहीं करता, उसी तरह इस ज्ञानी पुरुष को भी मृत्यु समय में कुटुंबियों आदिक से व शरीर से मोह त्यागने में वीरता व साहस दिखाना चाहिये।

तप के फलस्वरूप समाधिमरण के लिये प्रयत्न :-

अंतः क्रियाऽधिकरणं, तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।।२।।

अन्वय - सकलदर्शिनः तपःफलं अंतक्रियाधिकरणं स्तुवते तस्मात् हि यावत् विभंव तावत् समाधि मरणे प्रयतितव्यम्।

अर्थ - आयु पर्यन्त किये हुए तप का फल श्री अरहंत देव ने अन्त समय में होने वाला समाधिमरण कहा है इसलिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा क़र समाधिमरण करने में परम प्रयत्न करना चहिये।

भावार्थ - जैसे बहुत काल तक शास्त्राभ्यास करके भी परीक्षा के समय अनुतीर्ण (फैल) हो जाने वाला छात्र प्रशंसा का पात्र नहीं होता, अथवा युद्ध में हार जाने वाले सिपाही की जैसे कोई बढ़ाई नहीं करता, उसी तरह आयुपर्यन्त तप आदि करके भी जो पुरुष मरण समय में शरीर के या सबंधियों के मोह में विह्वल हो जाते हैं, उनका तप या ज्ञानादिक पाना प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। इसलिये अन्त समय में शरीर को कारागृह (कैदखाने) और संबंधियों को पहरेदार के समान समझ कर दोनों से प्रेम त्यागना चाहिये क्योंकि तप, ज्ञान, ध्यान आदि उत्तम कार्यों के करने से परलोक में मिलने वाली जो उत्तम विभूति है उसके शीघ्र प्राप्त होने में शरीर व सम्बन्धी बाधक होते हैं।

समाधि मरण के समय का कर्तव्य :-

स्नेहं वैरं संगं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च, क्षांत्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः।।३।।

अन्वय - शुद्धमनाः स्नेहं वैरं संगं च परिग्रहं च अपहाय च स्वजनं परिजनं अपि क्षान्त्वा प्रियवचनैः क्षमयेत्।

अर्थ - समाधि मरण के समय शुद्ध मन पूर्वक मित्रों से प्रेम, शत्रुओं से वैर व स्त्री-पुत्रादिक से पति-पिता आदि का संबंध त्याग कर और सर्व प्रकार के चेतन-अचेतन परिग्रह से अर्थात् गाय, भैंस, दासी, दास, रुपये, पैंसे, घर बार आदि से स्वामी पने की बुद्धि का त्याग करके सम्पूर्ण कुटुम्बियों व अन्य मेल मिलापी जनों से मिष्ट बचनों द्वारा क्षमा करानी चाहिए, और स्वयं भी सब से क्षमा-भाव धारण करे।

भावार्थ - गृहवास को सराय में किये हुए पंड़ाव के समान या एक वृक्ष पर किये हुए अनेक पक्षियों के बसेरे के समान समझ कर अपने को अकेला ही समझना चाहिये, मुसाफिरखाने की भीड़ को भाई, बन्धु, ताऊ, चचा, पुत्र, मित्र आदि समझ कर आकुलित होने से इस जीव का कोई भी लाभ नहीं होता है। इसलिये उक्त विचारों के द्वारा सब से मोह त्याग कर आनन्द पूर्वक इस जीर्ण, शीर्ण, दुर्गन्धमय व रोग ग्रसित शरीर से कूच करने के लिये तैयारी करनी चाहिये।

मृत्यु-महोत्सव की तैयारी :-

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्।।४।।

अन्वय - कृतकारितानुमतं सर्वं ऐनः आलोच्य आमरण स्थायि निःशेषं निर्व्याजं महाव्रतं आरोपयेत्।

अर्थ - मन-वचन-काय से व कृत, कारित, अनुमोदना (करना-कराना, खुशी-मनाना,) से संचय किये हुए समस्त पाप कार्यों की आलोचना (निंदा) करके मरण पर्यन्त के लिए बिना छल कपट के समस्त महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह त्याग) को धारण करना चाहिए।

शोकं भयमवसादं, क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुर्दीय च, मनः प्रसाध्यं श्रुतैरमृतैः।।५।।

अन्वय - शोकं, भयं, अवसादं, क्लेदं कालुष्यं, अरतिं, अपि हित्वा च सत्त्वोत्साहं उदीर्य अमृतैः श्रुतैः मनः प्रसाध्यम्।

अर्थ - समाधिमरण के समय कायरपने को व दुःख के कारणभूत शोक, भय, खेद, ग्लानि, कलुषता अति (बेचैनी) आदि को त्याग कर अपने पराक्रम और उत्साह को पूर्ण रूप से प्रकाट करना चाहिये, साथ ही अमृतोपम शास्त्र-बचनों का रसास्वाद करते रहना चाहिये।

समाधिमरण की विधि :-

आहारं परिहाप्यच क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत् पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा, खरपानं पूरयेत् क्रमशः।।६।।

खरपानहापनामपि, कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत् सर्वयत्नेन।।७।।

अन्वय - क्रमशः आहारं परिहाप्य स्निग्धं पानं विवर्धयेत च स्निग्धं हापयित्वा क्रमशः खरपानं पूरयेत् खरपानहापनां कृत्वा शक्क्त्या उपवासमपि कृत्वा पंचनमस्कारमनाः सर्वयत्नेन तनुं त्यजेत्।

अर्थ - समाधि मरण करते समय शरीर से ममत्व घटाने के लिये क्रम से पहले आहार का त्याग करके दुग्ध पान का अभ्यास करना चाहिए, पश्चात् दुग्ध का भी त्याग करके छाछ या गर्म जल के पीने का अभ्यास करना चाहिए, बादमें शक्ति पूर्वक जलादिक सभी वस्तुओं का त्याग करके उपवास करते हुए तथा सर्व यत्न से पंच परमेष्ठी के गुणों का ध्यान करते हुए शरीर को छोड़ना चाहिए।

मोक्ष नगर के लिये कलेवा :-

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य, वीतरागो ददातु मे।
समाधिबोधपाथेयं, यावन्मुक्तिपुरी पुरः।।८।।

अन्वय - वीतरागः मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य मे यावनमुक्तिपुरी पुरः तावत् समाधिबोधपाथेयं ददातु।

अर्थ - श्री वीतराग सर्वज्ञ देव से प्रार्थना है कि मृत्यु महोत्सव रूपी कार्य में लगे हुए मुझको स्वरूप की सावधानी व रत्नत्रय की प्राप्तिरूपी, पाथेय (कलेवा) देवें, जिससे कि मैं मोक्ष नगर में जा पहुंचूं।

भावार्थ - अरहंत देव आदि की प्रार्थना या भक्ति करने से यद्यपि साक्षात् मोक्षप्राप्ति नहीं होती, तथापि पुण्य बन्ध पूर्वक परंपरया मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

मरने में भय क्यों किया जाय :-

कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपंजरे।
भज्यमाने न भेतव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः।।९।।

अन्वय - यतः त्वं ज्ञानविग्रहः अतः कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपंजरे भज्यमाने न भेतव्यम् ।

अर्थ - मरण के भय को दूर करने के लिए मरते समय आत्मा को ऐसा सोचना

नोट-उपयोगी; प्रकरण योग्य समझ कर श्री रत्न करंडश्रावकाचार के ये उपर्युक्त ७ श्लोक भी मृत्यु महोत्सव के साथे में लगा दिये हैं।

चाहिये कि हे आत्मन् ! तू तो ज्ञान रूपी दिव्य शरीर का धारी है इसलिये सेकडों कीड़ों के समूह से भरे हुए इस जीर्ण, शीर्ण, शरीर रूपी पींजरे के नाश होते समय तुझे किसी भी प्रकार का भय करना उचित नहीं है।

भावार्थ - यह विचारना चाहिये कि अनादि काल से संसार चक्र में भ्रमण करते २ ये हाड़ मांस के शरीर तो तैंने इतने पा लिये हैं, कि यदि वे सब इलट्ठे हो सकते तो उनसे यह सम्पूर्ण तीन लोक भर जाता, अब एक शरीर के नष्ट होने में भी दुःख मानना या भय करना योग्य नहीं है।

नये नगर को गमन।

ज्ञानिन् भंय भवेत्करमात्प्राप्तं मृत्युमहोत्सवे।
स्वरूपरथः पुरं याति देही देहान्तरस्थितिः।।१०।।

अन्वय - हे ज्ञानिन् ! मृत्युमहोत्सवे प्राप्ते सति कस्मात् भंय भवेत यतः देही स्वरूपस्थः सन् देहान्तरस्थितिः पुरं याति।

अर्थ - हे ज्ञानी आत्मन् ! इस मृत्यु रूप महोत्सव के प्राप्त होने से तू क्यों भय करता है क्यों कि इस मृत्यु के द्वारा तो तू अपने ज्ञानादिक स्वरूप में स्थित रहता हुआ शरीरान्तररूप नये नगर को गमन करता है।

भावार्थ - मृत्यु जब आत्मा की ज्ञान दर्शन आदि पून्जी को नहीं छीनता किन्तु उसको इस जीर्ण शरीर रूपी फूटी झोंपडी से निकाल कर नवीन शरीर रूपी महल में पहुंचाती है तब उसको भयकारी या दुःखदाई न समझकर हितकारी ही समझना चाहिये।

मरण से स्वर्ग के सुख :-

सुदत्तं प्राप्यते यस्मात्, दृश्यते पूर्वसत्तमैः।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं, मृत्युभीतिःकुतःसताम्।।११।।

अन्वय - पूर्वसत्तमैः दृश्यते यस्मात् सुदत्तं प्राप्यते स्वर्भवं सौख्यं भुज्यते इति कुतः मृत्युभीतिः।

अर्थ - महात्मा पुरुष कहते हें कि जब मृत्यु के द्वारा जन्म भर दिये हुए दोनों के फलस्वरूप स्वर्गादिक के सुख प्राप्त होते हैं तब मृत्यु जैसे उपकारी मित्र से भय करना कैसे उचित हो सकता है।

मृत्यु भूपति का स्वागत :-

आगर्भाद्दुःखसंतप्तः प्रक्षिप्तो देहपंजरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन, मृत्युभूमिपतिं विना।।१२।।

अन्वय - आत्मा, आगर्भात् दुखसंतप्तः देहपंजरे प्रक्षिप्तः सः मृत्युभूपतिं बिना अन्येन न विमुच्यते।

अर्थ - समाधि मरण करते समय विचारना चाहिये कि कर्म रूपी शत्रु ने मुझे इस देह रुपी पीजंरे में लाकर बंदकर रक्खा है जिसके कारण मैं गर्भ से लेकर अब तक अनेक प्रकार के दुःख भोगरहा हूं इस शरीर को मैंने जन्म भर उत्तम २ भोजन कराये, अच्छे २ वस्त्र पहिनाये और अनेक प्रकार की सुख साम्रग्री प्राप्त कराई, स्वयं अनेक प्रकार की लोभादि कषायों से संतप्त रहकर धन कमा २ कर इसको अनेक प्रकार के आराम दिये किन्तु इस कृतध्न ने मुझे कभी सुख न दिया। अच्छे भोज़नों का मल मूत्र रुधिर आदि बना कर उनमें मुझको सड़ाया, दिव्य से दिव्य वस्त्रों को इसने बदबूदार बनाया, संसार के अनेक जीवों से झुठे नाते जुड़वाये इत्यादि अनेक दुःखों के कारण मैं इसेस तंग आगया हूं और मृत्यु रूपी बलवान राजा के बिना और कोई इस दुष्ट शरीर रूपी पिशाच से मुझे बचाने के लिये समर्थ नहीं है इसलिये स्वयं ही मेरे पास आये मृत्यु महाराज का मुझे बडा उपकार मनाना चाहिये।

मृत्यु-मित्र।

सर्वदुःखप्रदं पिंडं, दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः।
मृत्युमित्रप्रसादेन, प्राप्यते सुखसम्पदः।।१३।।

अन्वय - आत्मदर्शिभिः सर्वदुःखप्रदं पिन्डं दूरीकृत्य मृत्यु मित्रप्रसादेन सुखसंपदः प्राप्यते।

अर्थ - आत्मदर्शी ज्ञानी पुरुष मृत्यु रूपी मित्र के प्रसाद से सब दुःखो को देने वाले इस देह रूपी पिन्ड को त्याग कर सुख सम्पत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् गर्भसे लेकर मरणपर्यन्त इस अपवित्र शरीर में निवास करके जीवों को जो अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं उन सब से छुड़ाकर स्वर्ग आदिक सुख को प्राप्त कराने के लिये मृत्यु ही समर्थ है इसीलिये ज्ञानी पुरुष मृत्यु को मित्र के समान मानते हैं।

मृत्यु कल्प वृक्ष :-

मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधितः।
निमग्नो जन्मजंबाले, स पश्चात् किं करिष्यति।।१४।।

अन्वय - येन कल्पद्रुमे प्राप्ते आत्मार्थः न साधितः सः जन्म जंबाले निमग्नः सन् पश्चात् किम् करिष्यति।

अर्थ - जिस पुरुष ने मृत्यु रूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त करके भी अपनी आत्मा का हित साधन नहीं किया वह फिर संसार रूपी कीचड़ में फंसकर अर्थात् दुर्गति में जाकर पाये हुए नीच शरीर में कैद हो जाने के बाद क्या कल्याण कर सकेगा।

भावार्थ - मरते समय जो जीव अपने परिणामों को विशुद्ध रखता है, वह उत्तम गति को प्राप्त होता है और जो मोह माया में फेस कर मरता है बह दुर्गति में जाता है। इसलिये मरते समय जैसे बने वैसे प्रयत्न पूर्वक विशुद्ध परिणाम रखने चाहिये।

विना प्रयत्न सुन्दर शरीर व उत्तम इन्द्रियों की प्राप्ति :-

जीर्णं देहादिकं सर्वं, नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय, सतां सातोत्थितर्यथा।।१५।।

अन्वय - यतः सर्वं जीर्णं देहादिकं नूतनं जायते सः मृत्युः सतां यथा सातोत्थितः तद्वत् किम् मोदायन।

अर्थ - जिस मृत्यु के द्वारा जीर्ण शीर्ण शरीर व शिथिल इंद्रियां छूट जाती हैं और नवीन शरीर व उत्तम इंद्रियां प्रांप्त हो ज़ाती हैं ऐसी उस मृत्यु के प्राप्त होने पर, जैसे साता वेदनीय कर्म के उदय आने पर जीवों को हर्ष होता है, वैसे ही इसके आने पर क्या हर्ष नहीं मनाना चाहिये ?। नहीं अवश्य हर्ष मानना चाहिये।

भावार्थ - जैसे साता वेदनीय कर्म के उदय (फलदेने) से जीवों को अनेक प्रकार की सांसारिक सुख सामग्री प्राप्त होती हैं उसी तरह मृत्यु होने पर भी परलोक में व इस भव में किये हुए पुण्य कर्मों का उत्तम फल मिलता है। इसलिये जैसे साता कर्म के उदय को संसारी जीव चाहते हैं वैसे ही मृत्यु के आने पर उसका भी हर्ष मानना चाहिये।

सुख दुःख आत्मा को होता है न कि शरीर को :-

सुखं दुःखं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत्।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः।।१६।।

अन्वय - देहस्थः सदा सुखं दुःखं च वेत्ति स्वयं व्रजेत् तदा परमार्थतः कस्य मृत्यु भीतिः जायते।

अर्थ - सुख दुःख का अनुभव शरीरमें स्थित जो आत्मा है उसको होता है, शरीर को नहीं होता, और यही मृत्यु समय शरीर से निकल कर लोक में जाता है, यहीं रहकर शरीर की तरह नष्ट नहीं होता फिर मृत्यु का भय वास्तव में किसको मानना चाहिये अर्थात् किसी को भी नहीं मानना चाहिये क्यों कि जिस आत्मा को सुख दुःख होता है उसका मरने से पीछे कुछ बिगडता नहीं, और जो शरीर नष्ट होता है उसको सुख दुःख का ज्ञान नहीं इसलिये बिना ज्ञान के शरीर को भय भी नहीं लग सकता, आत्मा, शरीर के मोह से भय करता है सो उसको नवीन शरीर मिल जाने के कारण भय उचित नहीं।

मृत्यु, ज्ञानी को प्रमोद और अज्ञानी को शोक का कारण है :-

संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनःसाऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम्।।१७।।

अन्वय - संसारासक्तचितानां नृणाम् मृत्युः भीत्यै भवेत् सा पुनः ज्ञानवैराग्यवासिनां मोदायते।

अर्थ - जिन पुरुषों का चित्त संसार में आसक्त हो रहा है उनके लिये मृत्यु भय का कारण है और जो महात्मा पुरुष आत्मज्ञान में तल्लीन हैं तथा संसार से उदास हैं उनको मृत्यु के आने का हर्ष होता है, शोक नहीं होता।

देहाधिपति की बेरोकटोक यात्रा :-

पुराधीशो यदा याति सुकृतस्य बुभुत्सया।
तदासौ वार्यते केन प्रपञ्चैः पाञ्चभौतिकैः।।१८।।

अन्वय - यदा अधीश पुरा सुकृतस्य बुभुत्सया याति तदा असौ केन वार्यते, न केनापि, पांचभौत्तिक्तैः प्रपंचै अपि न वार्यते

अर्थ - इस शरीर रूपी नगर का मालिक यह आत्मा किये हुए पुण्य के फल को प्राप्त करने की इच्छा से जब परलोक की यात्रा करता है तब यह किससे रुक सकता

है न किसीसे। अरे और ! की तो बात क्या पंचभूतमय शरीर भी उसको नहीं रोक सकता।

भावार्थ - जब तक जीव के इस लोक सम्बन्धी आयु का उदय रहता है तभी तक शरीर आत्मा को कैद कर सक्ता है और जिस समय यह समाप्त हो जाती है व दूसरी आयु का उदय आ जाता है उस समय आत्मा को परलोक जाने से शरीर तो बया, बडे २ इंद्रादिक भी नहीं रोक सकते ?

मृत्यु समय की पीड़ा ज्ञानी को वैराग्य का कारण है :-

मृत्युकाले सतां दुःखं, यद्भवेद व्याधिसंभवम्।
देहमोहविनाशाय, मन्ये शिवसुखाय च।।१९।।

अन्वय - मृत्युकाले व्याधिसंभवं यत् दुःखं भवेत् तत् सतां देहमोहविनाशाय शिवसुखाय च इति अहं मन्ये।

अर्थ - मैं ऐसा समझता हूं कि मृत्यु समय में जो प्रायः रोग सम्बन्धी पीड़ा होती है वह ज्ञानी पुरुषों को शरीर से मोह त्यागने में और परलोक के उत्तम सुखों की प्राप्ति में निमित्त होती है, क्योंकि अनेक प्रकार के रोगों से जीर्ण शीर्ण दुर्गन्धित शरीर में निवास करने से उनको इस तरहं की अरुचि हो जाती है जैसी कि एक उच्चकुलीन पवित्र पुरुष को चाण्डाल आदि के दुर्गन्ध मय घिनावने घर से होती है।

मृत्यु को, ज्ञानी सुख और अज्ञानी दुःख का कारण मानते हैं :-

ज्ञानिनोऽमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन्।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत्पाकविर्धियथा।।२०।।

अन्वय - अस्मिन लोक यथा आमकुम्भस्य पाकविधिः भवेत् तथा मृत्युः तापकरः अपि सन् ज्ञानिनः अमृत संगाय भवेत्।

अर्थ - अज्ञानी जीवों को मृत्यु दुःखदाई मालूम होने पर भी ज्ञानी पुरुषों को सुधामय सुख का कारण मालूम होती है। क्यों कि वे जानते हैं कि जैसे जबतक कच्चा घडा अग्नि में नहीं पकाया जाता, तब तक उसमें अमृत स्वरूप जल नहीं भरा जाता, उसी प्रकार मरण समय में होने वाले रोगादिकों की पीड़ा को शांति पूर्वक सहे विना स्वर्ग मोक्ष के सुख नहीं मिल सकते ऐसे विचारों के कारण ही ज्ञानी पुरुषों को मरण का दुख नही होता।

कठिन तप व समाधि मरण के फल की समानता :-

यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासंविडंबनात्।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मत्युकाले समाधिना।।२१।।

अन्वय - सद्भिः व्रतायासविडंबनात् यत्फलं प्राप्यते तत्फलं मृत्युकाले समाधिना सुखसाध्यं स्यात्।

अर्थ - जो फल बडे २ ब्रती पुरुषों को कायक्लेश आदि तप, व्रत आदि के धारण करने से प्राप्त होता है वह फल अंत समय में सावधानी पूर्वक किये हुए समाधि मरण से जीवों को सहज में ही प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ - जो आत्मविशुद्धि अनेक प्रकार के कठिन व्रतादिक व तप करने से होती है, वह मरण समय में कुछ काल तक ही शांति धारण करने व संसार का मोह त्यागने से प्राप्त हो जाती है।

शांति पूर्वक मृत्यु का फल :-

अनार्त्तः शांतिमान्मर्त्यो न तिर्यग्नापि नारकः।
धर्मध्यानी पुरो मर्त्यो ऽनशनी त्वमरेश्वरः।।२२।।

अन्वय - अनार्त्तः शांतिमान् मर्त्यः न तिर्यग् भवति नापि नारकः भवति। अनशनी धर्मध्यानी पुरः मर्त्यः तु अमरेश्वरः भवति।

अर्थ - जो पुरुष अन्त समय में आर्त्त रौद्र परिणाम न कर के शांति पूर्वक मरण करता है वह तिर्यञ्चगति व नरकगति में नहीं जाता और जो ज्ञानीजन धर्मध्यान पूर्वक उपवास करके परलोक यात्रा करते हैं वे स्वर्ग के इन्द्रआदि उत्तम पदों को प्राप्त करते हैं।

समाधि मरण से ही व्रत, तप व शास्त्रज्ञान सफल होते हैं :-

तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि, फलं मृत्युः समाधिना।।२३।।

अन्वय - तप्तस्य तपसः च पालितस्य व्रतस्य अपि च पठितस्य श्रुतस्य फलं समाधिना मृत्युः अस्ति।

अर्थ - बहुत काल तक किये हुए उग्र तपों का, पाले हुये व्रतों का और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्र ज्ञान का एक मात्र फल शांति पूर्वक आत्मानुभव करते हुए समाधि मरण करना है।

भावार्थ - यदि कोई पुरुष आयु पर्यन्त तप करके, व्रत पाल कर व शास्त्राभ्यास करके भी मरण समय में मोह को घटा कर सांत परिणाम न कर सका तो उसका व्रतादिक पालने का सब परिश्रम एक तरह से व्यर्थ ही समझना चाहिये।

नवीन से प्रेम, और पुराने से अरुचि :-

अतिपरिचितेष्वज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः।
चिरतरशरीरनाशे, नवतरलाभे च किं भीरुः।।२४।।

अन्वय - ``अति परिचितेषु अवज्ञा भवेत् तथा नवे प्रीतिः भवेत्'' इति हि अस्ति जनवादः अतः चिरतरशरीरनाशे नवतरलाभे च किं भीरुः।

अर्थ - संसारी जीवों का प्रायः ऐसा नियम है कि ``वे अच्छी अच्छी वस्तु का भी अत्यन्त परिचय होने पर एक प्रकार से तिरस्कार करने लगते हैं, और नवीन वस्तु चाहे अच्छी भी न हो तो भी उस में प्रीति किया करते हैं,'' इस नियम को लेकर शास्त्रकार संसारी जीवों से कहते हैं कि भाई ! मरने से तो तुम्हें पुराना शरीर छूट कर नवीन शरीर मिलता है फिर तुम मरने से क्यों डरते हो।

स्वर्गादेत्य पवित्रनिर्मलकुले संस्मर्यमाणा जैनः।
दत्वा भक्तिविधायिनां बहुविधं बाच्छानुरूपं धनम्।।
भुक्त्वा भोगमहार्निशं परकृतं स्थित्वा क्षणं मण्डले।
पात्रावेशविसर्जनामिव मृतिं सन्तो लभंते स्वतंः।।२५।।

अन्वय - पवित्र निर्मलकुले स्वर्गादेत्य जनैः संस्मर्यमाणाः सन्तः भक्तिविधायिनः बहुविधं वांछानुरूपं धनं दत्त्वा परकृतं भोगं अहर्निशं भोगं भुक्त्वा मण्डले क्षणं स्थित्वा पात्रावेशविसर्जनं इव स्वतः अमृति लभन्ते।

अर्थ - पहले श्लोकों में बताया है कि जो ज्ञानी महात्मा पुरुष मरण समय में धर्म ध्यान पूर्वक शांतचित से व्रत उपवासादि करते हुये शरीर छोडते है वे स्वर्गों में जाकर इन्द्रादिक की संपति को प्राप्त करते है। अब इस श्लोक में बताते हैं कि वे ही पुण्यात्मा पुरुष स्वर्गकी आयु समाप्त कर बड़े २ पवित्र जगत पूज्य उत्तम कुलों में अवतार लेकर अनेक उत्तम पुरुषोंसे पूजे जाते है अर्थात् तीर्थंकरादि पद प्राप्त करते हैं, और कुछ काल पृथिवी मंडल में विराजमान रह कर पुण्योदय से उपार्जित अनेक उत्तमोत्तम भोगों को निरंतर

भोगते हुए तथा भक्त पुरुषों को मनोवांछित फल देते हुए अंत में तप करेक जगत को एक प्रकार का नाटक सा दिखाकर वा अनादि कालीन कार्माण शरीर के संबंध को भी छोड़कर परमानन्द मय परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

इति शुभम्

मृत्युमहोत्सव

की

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	अ	
अनार्तः शांतिमान्मर्त्योः	२२	२४४
अतिपरिचितेष्वज्ञा	२४	२४५
	आ	
आलोच्य सर्वमेनः	४	२३७
आहारं परिहाप्य च	६	२३७
आगर्भाद्दुखसंतप्त	१२	२४०
	उ	
उपसर्गे दुभिक्षे	१	२३५
	अं	
अंतःकियाधिकरणम्	२	२३६
	क	
कृमिजालशताकीर्णे	९	२३८
	ख	
खरपानहापनामपि	७	२३८
	ज	
जीर्णं देहादिंक सर्वम्	१५	२४१
	त	
तप्तस्य तपसश्चापि	२३	२४४
	प	
पुराधीशो यदा याति	१८	२४२

श्लोकपाद	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
	म	
मत्युमार्गे प्रवृतस्य	८	२३४
मृत्युकापद्रुमे प्राप्ते	१४	२४१
मृत्युकाले खतां दुःखम्	१९	२४३
	य	
यत्फलं प्राप्यते सद्भिः	२१	२४४
	स	
सुदत्तं प्राप्यते यस्मात्	११	२३९
सर्वदुःखप्रदं पिडण्म्	१३	२४०
सुखं दुःखं सहा वेत्ति	१६	२४२
संसारासक्तचित्तानाम्	१७	२४२
स्नेहं वैरं संगम्	३	२३६
स्वर्गादेत्य पवित्र निर्मलकुले	२५	२४५
	श	
शोकं भयमवसादम्	५	२३७
	ज्ञ	
ज्ञानिन् भयं भवेत्कस्मात्	१०	२३७
ज्ञानिनोमृतसंगाम	२०	२४३